卐 ॐ 卐

" वीरो वीरनराग्रणीर्गुणनिधिर्वीरा हि वीरं श्रिताः ।
वीरे सोह भवेत्सुवीरविभवं वीराय नित्यं नमः ॥"

—श्रीसकलकीर्तिः

श्रीमान् स्व० लाला मगनीराम जी जैन, रईस व जिमीन्दार
जसवन्तनगर (इटावा)

प्रेमोपहार ।

"वीर" के द्वितीय वर्ष के ग्राहकों को यह भगवान् महावीर का संक्षिप्त जीवन और दिव्योपदेश श्रीमान् स्वर्गीय ला० मगनीरामजी की पुण्य-स्मृति में श्रीयुत बाबू शिवचरणलालजी, जसवन्तनगर-निवासी-द्वारा सादर सप्रेम समर्पित है ।

मेरे दो शब्द !

प्रियवाचकवृन्द,

अपने प्रिय मित्र बाबू शिवचरणलालजी की उत्कट अभि-
लाषानुसार आपके करकमलों में अपने आराध्य देव परमात्मा
महावीरजी का पवित्र चरित्र समर्पित करते मुझे परम हर्ष का
अनुभव हो रहा है। जितना समय मैंने श्रीभगवान् महावीर के
दिव्य चरित्र को संकलन, मनन और पठन करने में व्यतीत
किया है उसमें मुझे अवश्य ही आत्मिक आह्लाद का आस्वाद
प्राप्त हुआ है। उसी अमृततुल्य आस्वाद का पान आपको हो
सके और भगवान् के पुण्यचरित्र से आप अपनी आत्माओं को
उन्नत बना सकें इसी भाव से यह पुस्तक प्रकट हो रही है।

जैन-धर्म के प्राचीन पुरुषों का इतिहास कितने अंधकार में
पड़ा है और उन प्राचीन महान् पुरुष-रत्नों के देदीप्यमान
सत्कृत्यों से संसार किस प्रकार अनभिज्ञ हो रहा है, यह आज
किसी से छिपा नहीं है। इसलिए जैन-धर्म की प्राचीन कीर्ति
और उसके वैज्ञानिक-रीत्या-वर्णित अव्याबाध सुख के संदेश को
चहुँ ओर प्रकट करने की उत्कट आवश्यकता के समय मेरे प्रिय
मित्र का यह श्रेष्ठ कार्य अवश्य ही अनुकरणीय है। अतएव
क्या हम आशा करें कि हमारे श्रीमानों का ध्यान समय की इस

आवश्यक माँग की ओर आगामी रहेगा ? दुःख है कि अभी भी अतुल जैन-साहित्य शास्त्र-भंडारों में ही सीमित हो रहा है। यदि वह समुचित रीति से प्रकाशित किया जाकर सभ्य विद्वत्समाज के सन्मुख लाया जावे, तो अवश्य ही भारत के प्राचीन इतिहास में और संसार के सैद्धान्तिक विज्ञान में नवयुग उपस्थित हो जावे ! और जैन-धर्म का प्रचुर प्रताप पूर्णतया चहुँ ओर प्रसरित हो जावे ! क्या यह स्वर्णावसर निकट भविष्य की गोद में संभवित समझा जावे ? इसका उत्तर तो जैन धनवानों पर ही अवलम्बित है !

भगवान् महावीर के जीवन पर प्रचुर प्रकाश पड़ चुका है। अतएव इस पुस्तक से संभव है कि कोई नवीन संदेश प्राप्त न हो। परन्तु पाठकों को ध्यान रहे कि यह भगवान् के पवित्र चरित्र और दिव्योपदेश को प्रकट करने के लिए ही प्रकाश में आरही है। आशा है जैन-अजैन सर्व ही इससे उपयुक्त लाभ उठावेंगे। ॐ वन्दे वीरम्।

विनीत :—

अलयन्तागगर,
 ता० २ । १० । १९२५ } कामताप्रसाद जैन।

श्रीमान् स्वर्गीय ला० मगनीरामजी का संक्षिप्त जीवनवृत्तान्त।

संयुक्त-प्रान्त के ज़िले इटावे में क़स्बा जसवन्तनगर अपने व्यापार के लिए प्रसिद्ध है। इसी स्थान पर सन् १८५७ ई० के बहुत वर्षों पहिले से बसा हुआ एक प्रख्यात मोदी वंश है। यह वंश दिगम्बर जैन-धर्म का श्रद्धानी पद्मावतीपुरवाल जाति का है। इसी वंश में सन् १८५७ ई० के ग़दर के पूर्व एक श्रीबुद्धसेनजी नामक पुरुष थे। आपके ही दो पुत्र श्रीमान् ला० भजनलालजी व ला० मगनीरामजी थे। दोनों पुत्रों का जन्म क्रम से श्रावणशुक्ला द्वितीया सं० १९०९ और आश्विन-शुक्ला प्रतिपदा सं० १९१२ को हुआ था। ग़दर में ला० भजन-लालजी यद्यपि अल्पावस्था के थे, परन्तु आप हवेली पर चढ़ कर अपनी टोपी में भर भर बारूद पहुँचाते थे। उस समय जसवन्तनगर क़रीब क़रीब सब ही ओर से निर्जन हो गया था। इस प्रकार बचपन से ही यह दोनों भाई विचक्षण बुद्धि के और समय की जानकारी रखनेवाले थे। उस समय में सारी जैन-समाज में विद्याप्रचार किस कमी पर था, यह हमको प्रकट है। उसी अनुरूप में इन दोनों भाइयों की भी शिक्षा साधारणतया हिन्दी और महाजनी के पढ़ने में ही पूर्ण हो गई थी। परन्तु उस समय के प्रवाहानुसार आपको जैन-धर्म के स्तोत्रादि अवश्य ही कण्ठस्थ करा दिये गये थे।

दोनों भाइयों के विवाह भी जब वह चौदह वर्ष के थे हुए थे। ला० भजनलालजी के दो विवाह हुए थे। दूसरे विवाह से आपके एक मात्र पुत्र और उत्तराधिकारी श्रीयुत बाबू शिवचरणलालजी का जन्म हुआ था। बाबूजी ही अपने पूज्य पूर्वजों की पवित्र-स्मृति में यह ग्रन्थ प्रकट कर धर्म का उद्योत कर रहे हैं।

ला० भजनलालजी अपनी ज़िमीन्दारी की देख-रेख और घी व हुएडी के व्यापार में विशेष पटुता से कार्य किया करते थे। आपके आसामी आपको वस्तुतः अपना हितेच्छु समझते थे। उनके आपसी लड़ाई-झगड़ों को आप ख़ुद ही निपटा दिया करते थे। आप शास्त्रश्रवण और सामायिकादि नित्यप्रति किया करते थे। सं० १६५७ में आपने श्रीजिन भगवान् का विशेष पूजन (पाठ) कराया और उसमें अपने सारे सजातीय भाइयों को निमंत्रित किया। इस सुअवसर के सर्वदिवस आनन्द से पूर्ण हुए। परन्तु पाठ के पूर्ण होने के दूसरे दिन आप रात्रि के ४ बजे सामायिक करने के लिए बैठे कि वहीं सामायिक करते सहसा आपका स्वर्गवास हो गया! आपको ज्योतिष का भी अच्छा ज्ञान था। कहते हैं कि आपने अपनी मृत्यु के विषय में पहिले ही कह दिया था कि मंदिरजी, राजदरबार अथवा दुकान की गद्दी पर हमारी मृत्यु होगी। तदनुसार गद्दी पर धर्म ध्यान में लीन आपका पवित्रात्मा इस नश्वर देह को छोड़ किसी उत्तम गति में जा विराजमान हुआ। यह मिती माह सुदी २ सं० १६५७ का दिन था। जहाँ सब लोग आनन्द में मग्न थे, वहाँ सहसा घोर हाहाकार मच गया। सांसारिक कार्यों के रंग में भंग होने का मानो वहीं

काल निर्णीत था। अन्ततः शोकसंतप्त परिवार को सान्त्वना ग्रहण करनी पड़ी। ला० मगनीरामजी ने वंश की रक्षा व कारभार की देखरेख का भार ग्रहण किया। इस समय बाबू शिवचरणलालजी अल्पावस्था में थे। आपने आपका पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध बड़े चाव से अपने पुत्र के समान ही किया। यद्यपि आपके तीन विवाह हुए थे, परन्तु दैव की भृकुटी को यह छिन्न भिन्न न कर सके। आपके कई सन्तान हुईं; परन्तु जीवित न रहीं। इस प्रकार इन दोनों भाइयों के मध्य कुल के उद्धारक श्रीयुत बाबू शिवचरणलालजी हैं।

लाला मगनीरामजी का जीवन कर्तव्यपरायण और धर्ममय था। लेखक ने स्वयं अपनी आँखों से उन नाटे क़द के स्थूल पर सुंदर शरीरधारी गौर वर्ण के उत्तम पुरुष को अपनी दिनचर्य्या में इस निपुणता और उत्साह से संलग्न देखा है कि वह उनकी उस वयप्राप्त अवस्था के श्रम को देख अपनी युवावस्था की चर्य्या को आलस्यमय ही समझता है। आप प्रातःकाल ही उठते और सामायिक करने बैठ जाते। सामायिक से निवृत्ति पा और शौच करके श्रीदेवदर्शन के लिए प्रस्थान कर जाते। सर्दी और गर्मी सबमें आपका यही व्यवहार रहता। आज जिस समय हमारे अधिकांश नवयुवक सो के मुश्किल से उठते होंगे कि उसके पहिले ही वह आत्मध्यान और स्नान आदि करके भगवद्दर्शन के लिए पहुँच जाते। फिर अपने व्यापारी कार्य—बहीखाता स्वयं लिखने आदि में व्यस्त हो जाते। इस कार्य को पूर्ण कर आप नियम से शास्त्रश्रवण करने मंदिरजी में पहुँच जाते। जब तक आप जीवित

रहे जसवन्तनगर में शास्त्र भी नियमित रुप से होता रहा था।

आप जिस प्रकार व्यापार में सिद्धहस्त थे, उसी प्रकार अपने संचित धन का उपयोग भी समुचित रीति से करना जानते थे। जब आपके उत्तराधिकारी श्रीयुत बाबू शिवचरण-लालजी का विवाह अलीगंज (एटा) होने गया, उस समय आपने उचित दान के साथ साथ श्रीकम्पिलजी तीर्थक्षेत्र में धर्मशाला बनवाने के लिए ज़मीन खरीद दी। उसी पर एक पुख़्ता धर्मशाला बद्देलेलमेचू आदि धर्मात्मा भाइयों की सहायता से बन रहा है। इसके अतिरिक्त आपने श्रीमंदिरजी जसवन्तनगर में एक वेदी संगमरमर की लगाई और उसमें स्वर्ण का कार्य कराया। तथा वहीं एक दालान में स्वर्ण और शीशे पर रंग का कार्य भी करवाया। और उस वेदी के लिए तीन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाई। अपनी वेदी की प्रतिष्ठा माघशुक्ला ५ सं० १९७३ में करवाई और उसमें उन प्रतिमाओं को बड़े उत्सव से पधरवाया। उस समय रथ-यात्रा निकली थी। और विद्वानों के अपूर्व व्याख्यानों-द्वारा जैन-धर्म की प्रभावना की गई थी। जैन-धर्म-भूषण ब्र० शीतलप्रसादजी, पं० तुलसीरामजी काव्यतीर्थ, पं० देवकीनन्दनजी शास्त्री आदि धुरंधर विद्वान् उस समय पधारे थे। जसवन्तनगर में आपकी दान-शीलता के कार्य दो और हुए थे। एक तो आपने एक धर्मशाला की नींव डलवाई और उसमें दो कमरे और एक दालान बनवा दिये। तथा दूसरे जैन-पाठशाला की स्थापना में सहायता प्रदान की। और जब तक पाठशाला रही तब तक सहायता प्रदान करते रहे। इस प्रकार आपकी धार्मिक उदा-

रता प्रकट है। आपकी धर्मवृत्ति सदैव बढ़ती रही। आप बरावर श्रीकम्पिलजी तीर्थक्षेत्र की वन्दना करने क़रीब क़रीब प्रति वर्ष जाया करते थे। तथापि कई वार आप शिखिरजी, गिरनारजी, सोनागिरिजी आदि की यात्रा करने गये थे।

आपका उदार चारित्र्य सर्व प्रकट था। सरकार में भी आपकी मान्यता विशेष थी। आप टाउन की पंचायत के पंच और डिस्ट्रिक्टबोर्ड के मेम्बर थे। इन कार्यों को भी आप विशेष चारुता से किया करते थे। इस प्रकार अपने दैनिक जीवन में कालयापन करते हुए आप मिती चैत्रवदी १२ शनिवार सं० १६७६ की शाम को ७ बजे स्वर्गगामी हुए। आपके उत्तराधिकारी बाबू शिवचरणलालजी ने काल की विचित्र गति को विचारते हुए यह वज्राघात संतोषपूर्वक सहन किया। और अब वह अपने पूर्वजों की भाँति अपने कारभार को सँभाल रहे हैं। आपका "वीर" के प्रति विशेष सद्भाव है। और दानशीलता भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती जाती है। अभी हाल ही में आपने जसवन्तनगर में अस्पताल खोलने की आयोजना में १०००) प्रदान किये हैं।

समाज में यदि सामयिक आवश्यकतानुसार दान करनेवाले दानवीर उत्पन्न हो जावें तो समाज की हीन दशा अति शीघ्र दूर हो जावे! पाठको, इस प्रकार उस वंश के पुरुषों का यह संक्षिप्त वृत्तान्त है जिनकी स्मृति में यह पुस्तक प्रकट की जा रही है! इति शम्।

—लेखक

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः ।

भगवान् महावीर और उनका उपदेश ।

"बहुगुणसंपदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् ।
नयभक्त्यवतंसकलं तव देव ! मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥"

—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र

अर्थात्—"सर्वज्ञत्व, वीतरागत्वादिक जो बहुगुण तद्रूप सम्पत्ति उससे न्यून, तथा मधुर वचनों की रचना से युक्त मनोज्ञ, ऐसा पर का मत है, तथा आपका मत सम्यक् प्रकार से भव्य प्राणियों को कल्याण का कर्त्ता है और नैगमादि नयों का जो भंग (स्यादस्तीत्यादि भेद) तद्रूप जो कर्णभूषण उसको लानेवाला है, अर्थात् नैगमादि नय वा सप्तभंगों सहित है।"

प्राक्कथन और विषयप्रवेश ।

विक्रम की दूसरी शताब्दी में होनेवाले श्रीमद्भगवन् समन्तभद्राचार्य ने भगवान् महावीरजी के उपदेश के सम्बन्ध में अवश्य ही उपयुक्तरीत्या उपर्युक्त शब्द कहे हैं। उन भगवत्तुल्य आचार्य ने किस प्रकार यह शब्द कहे इसकी परीक्षा करना मानो अपनी अश्रद्धा प्रकट करना है, अथवा 'सूर्य्य को दीपक दिखानेवत्' चेष्टा करना है। उन ज्ञानगुणगंभीर गुरुवर्य्य के उक्त शब्द ही अपने महत्त्व को स्वयं प्रकट कर रहे हैं। तो

भी अपनी कामना की पूर्तिहेतु हम तीर्थङ्कर भगवान् के विशद-तत्त्व-उपदेश-नद में प्रवेश कर इन शब्दों का यथार्थ रसपान करेंगे। परन्तु पहिले यह जानना आवश्यक है कि यह भगवान् महावीर थे कौन? इन्होंने किस जाति के, किस समय के और किस अवस्था के मनुष्यों को उपदेश दिया था? और उसको किस प्रकार उन लोगों ने स्वीकृत किया था? इन बातों से विज्ञ हुए बिना उस उपदेश का महत्त्व कैसे समझा जा सकता है? हाँ, यह अवश्य है कि अन्य ग्रन्थों से उन भगवान् के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त की जा सकती है, परन्तु जिस महान् आत्मा के दिव्योपदेश का परिचय हम यहाँ प्राप्त कर रहे हैं, तो यह आवश्यकीय है कि हम उसका संक्षिप्त वृत्तान्त भी जान लें। अतएव कहना होगा कि भगवान् महावीर जैनियों के—अथवा जैनधर्म में माने हुए २४ तीर्थङ्करों में से अन्तिम तीर्थङ्कर थे।

भगवान् महावीर हम आप जैसे मनुष्य ही थे; परन्तु अपने पूर्वभवों में विशेष पुण्यकर्म करने से वह जन्म से ही मति, श्रुति और अवधिज्ञान* के धारक थे। उनका शरीर अतुल्य बलकर पूर्ण परम मनोहर, मलादिरहित था। वे

भगवान् का संक्षिप्त परिचय।

वैशाली के निकट अवस्थित कुण्डग्राम के अधिपति नृप सिद्धार्थ के सुपुत्र थे। नृप सिद्धार्थ नाथवंशीय काश्यपगोत्री क्षत्री थे और जैनधर्म के श्रद्धानी

* जैन-शास्त्रों में ज्ञान पांच प्रकार का बताया है; "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" अर्थात् (१) मतिज्ञान—यह ज्ञान

थे *। इनकी महारानी—वैशाली के राजा चेटक की पुत्री त्रिशला या प्रियकारिणी भगवान् की माता थीं, जो रूप, गुणादि के साथ साथ विद्या में भी निपुण थीं। नृप सिद्धार्थ के विषय में यह दृढ़ अनुमान किया जाता है कि वह वज्जियन प्रजा-सत्तात्मक राज्यसंघ में सम्मिलित थे। इन्हीं के पवित्र गृह में भगवान् महावीर का जन्म चैत्रशुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। भगवान् के गर्भ-समय के छः मास पहले से ही स्वर्गलोक के देवों ने रत्नवृष्टि करना प्रारंभ कर दी थी और भगवान् के जन्मसमय उत्सव मनाया था। चार प्रकार देवों के इन्द्र और देव तीर्थङ्कर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष कल्याणों—अवसरों पर आनन्दोत्सव मनाते हैं। इस समय दिशायें भी निर्मल होगई थीं। सुन्दर वायु बहने लगी थी। सर्व जीवों को क्षणभर के लिए सुख का अनुभव प्राप्त होगया

है जिससे इन्द्रियों और मन द्वारा जीवाजीवादि पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो।

(२) श्रुतज्ञान—वह ज्ञान है जो शास्त्रों के अध्ययनादि से प्राप्त हो।

(३) अवधिज्ञान—वह ज्ञान है जो बिना पर की सहायता के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा रूपी द्रव्यों का ज्ञान कराता हो।

(४) मनःपर्य्यय ज्ञान—प्रत्यक्ष दूसरे के मन का हाल जानने का ज्ञान।

(५) और केवल ज्ञान—पूर्ण ज्ञान है अर्थात् सर्वज्ञता !

* जैन एवं जैनेतर शास्त्र इस युग में जैन-धर्म के संस्थापक श्री० ऋषभदेव को बतलाते हैं जिनका उल्लेख वेदों में है। इस हेतु भगवान् महावीर से पहिले भी जैनधर्म विद्यमान था। और नृप सिद्धार्थ उस ही के श्रद्धानी थे जैसे मि० विमलचरण लॉ-एम० ए० ने अपनी पुस्तक The Kshatriya Clans in Buddhist India में व्यक्त किया है।

था। बात यह है कि महान् पुरुष के जन्म-समय सब बातें शुभ की सूचना देनेवाली होती हैं।

भगवान् का जन्म होगया। वह चन्द्रकला की भाँति दिन प्रति दिन बढ़ने लगे। बाल्यकालीन क्रीड़ाओं को करने भगवान् महावीर मंत्रीपुत्रों और देवसहचरों सहित राज-उद्यानादि में जाया करते थे, और बालक्रीड़ायें किया करते थे। अपने अपरिमित शारीरिक पराक्रम के बल भगवान् ने एक बार 'मदमद' नामक मत्त हाथी को वश किया था। एक अन्य स्थान पर जब आप अपने सखा सहचरों समेत राज्योद्यान में क्रीड़ा कर रहे थे, तब सहसा वहाँ एक अति विकराल काला नाग आ निकला। अन्य बालक घबड़ा कर इधर-उधर भागने लगे। परन्तु भगवान् ने झट उसे वश कर लिया। इसी प्रकार आप धर्मपालन में भी विशेष कटिबद्ध थे। आपने आठ वर्ष की नन्हीं अवस्था से ही श्रावक के वृतों को पालन करना प्रारंभ कर दिया था। इसी समय चारणलब्धि के धारक विजय व संजय* नाम के यतियों का संशय एक दिन भगवान् को देखते ही दूर हो गया था। इसीलिए उन्होंने भगवान् का नाम 'सन्मति' रक्खा था।

---

* म० गौतम बुद्ध के एक मुख्य शिष्य मौद्गलायन के गुरु का नाम भी 'संजय' था। मौद्गलायन पहिले जैन मुनि था यह जैनाचार्य अमितगति स्पष्ट करते हैं। इस हेतु इनके गुरु संजय 'महावीरचरित्र' में उल्लिखित चारण ऋद्धि धारक जैनमुनि होना चाहिए। मि० विमलचरण ला० एम० ए० बी० एल० अपनी पुस्तक "The Historical Gleanings" में लिखते हैं कि यूनानी फिलास्फर पैरहो (Pyrrho) ने भारत में आकर "जैमनोसूफिस्ट्स" (Gym-

दिन बीतते देर नहीं लगती। भगवान् महावीर भी शीघ्र ही युवावस्था को प्राप्त हो गये। इस समय आप पिता के राजकाज में भी सहयोग देने लगे। श्वेताम्बराम्नाय के सूत्रग्रन्थ व्यक्त करते हैं कि भगवान् का इस अवस्था में यशोदरा नाम की एक राजकन्या से पाणिग्रहण हुआ था। परन्तु दिगंबर ग्रन्थ प्रकट करते हैं कि भगवान् महावीर आजन्म बाल-ब्रह्मचारी रहे थे। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंश पुराण में इस विषय में जो उल्लेख हैं उससे यह प्रकट नहीं होता कि भगवान् ने विवाह कर लिया था। राजा जितशत्रु अपनी कन्या यशोदा भगवान् को समर्पित करना चाहते थे परन्तु उनको संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने विवाह नहीं किया यही प्रकट है। बौद्धग्रन्थ भी शायद इस ओर मौन हैं। जो हो यह मतभेद ऐसा है कि इससे दोनों सम्प्रदायों में कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं उपस्थित होता!

इस प्रकार भगवान् तीस वर्ष की अवस्था तक गृहस्थाश्रम में रहे। परन्तु इस समय आपको वैराग्य होगया था। भगवान् के माता-पिता आपके संसार-त्याग के निश्चय को जान कर पहिले तो दुःखी हुए, परन्तु भगवान् के समझाने पर वह प्रतिबुद्ध हो गये और उनके मोह का नाश होगया। वैराग्य में

---

nosophists) से दार्शनिक शिक्षा ग्रहण की थी। यह "जैमनोसू-फिस्टस" दि० जैन मुनिगण थे यह "इनसायक्लोपेडिया ब्रेटेनिका" भाग २९ के कथन से प्रमाणित है। फिर उसी पुस्तक में मि० लॉ अगाढ़ी लिखते हैं कि पैरहो की सैद्धान्तिक शिक्षा संजय के अनुसार है। इसलिए मौद्गलायन के गुरु संजय जैनमुनि थे; जिनका उल्लेख असग कविकृत 'महावीरचरित्र' में है, यह सम्भवित है।

उसका अन्त होना अवश्यम्भावी है। विवेकपूर्ण मोह मोह नहीं होता। वह प्रेम होता है और उसका अन्त वैराग्य में नहीं होता। वह विवेकमय प्रेम इस निर्वृत्तिमार्ग में उत्तरोत्तर बढ़ता है। इस हेतु वैराग्य-प्राप्ति पर सब ओर से ममत्व भाव हटा कर भगवान् महावीर ने 'वनखंड' नामक वन में जाकर अगहन वदी १० के दिन नग्न दिगम्बर वेश को धारण कर संयम को ग्रहण कर लिया और सिद्धों को नमस्कार कर स्वध्यान में लवलीन होगये। तबही आपको *मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त होगया था।* परन्तु श्वेताम्बरग्रन्थ कहते हैं कि डेढ़ वर्ष तक उन्होंने इन्द्र दत्त देवदूष्य वस्त्र धारण किये थे। पश्चात् वह नग्न अचेलक हो गये थे।* इससे भी यही प्रकट है कि वह नग्न दिगंबर वेश में रहे थे। इस समय

दीक्षाग्रहण और केवलज्ञान-प्राप्ति।

---

* मुनियों के वेश को ही लेकर श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय से पवित्र जैनसंघ में फूट के बीज पड़ गये थे। जो अन्त में ईसा की प्रथम शताब्दी में पूर्णरूप में प्रस्फुटित हो गये। दिगम्बर और श्वेताम्बर का भेद महाराज चन्द्रगुप्त के समय से ही वह निकला। उस समय के घोर दुष्काल ने उत्तर में रहे मुनियों को प्राचीन नग्नवेश धारण करने में शिथिल बना दिया। जिस शिथिलता के कारण अन्त में जैन-संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में विभाजित होगया। प्राचीन जैन मुनियों का वेश यथार्थ में नग्न ही था जैसा कि दिगम्बर-सम्प्रदाय को स्वीकृत है। यही नग्न वेश स्वयं श्वेताम्बरों के आचाराङ्ग सूत्र के निम्न उद्धरणों से प्रमाणित है:—

(१) जो मुनि अचेल (वस्त्ररहित) रहते हैं उनको यह चिन्ता नहीं रहती कि मेरे वस्त्र फट गये हैं आदि (३६०)

भगवान् उपदेश नहीं देते थे। वह मात्र आत्ममनन में सदैव लीन रहा करते थे। भगवान् का सब से प्रथम पारणा (आहार) कूलनगर के कूलनृप के यहाँ हुआ था। नगर और राजा का नाम एक होना हमको विश्वास दिलाता है कि यह नृपति कोल्यि जाति में से था। यहाँ से भगवान् सर्वत्र भारत में विहार करते रहे।

भगवान् ने १२ वर्ष का दुर्धर तपश्चरण धारण किया था। इसी बीच में जब आप उज्जैन की ओर विहार कर रहे थे तब ११ वें रुद्र ने आप पर घोर उपसर्ग किया था; परन्तु उससे भी आप विचलित न हुए। पश्चात् जब आप ऋजुकुला नदी के तट पर अवस्थित जृम्भकग्राम में निकट-वर्ती विराजमान थे, तब मध्याह्न के समय आपको अन्तिम ज्ञान—केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। इस समय आपकी अवस्था ४२ वर्ष की थी। आपको सर्वज्ञता प्राप्त हो गई। आप जीवन्मुक्त परमात्मा होगये।

---

(२) वस्त्ररहित रहनेवाले मुनियों को बार बार कांटे लगते हैं, उनके शरीर को जाड़े का, डांसों का, मच्छरों का आदि कई प्रकार के परीषह सहन करना पड़ते हैं जिससे शीघ्र ही तप की प्राप्ति होती है। (३६८)

इनमें मुनियों का नग्न वेश ही स्वीकार किया गया है तथा श्लोक नं० ४३३ में उन मुनियों के लिए कटिवस्त्र धारण करने का विधान किया गया है जो लज्जा को निवारण नहीं कर सकते उससे ग्रन्थकार के विवेचन में अवैज्ञानिकता प्रतिभाषित होती है। दिगम्बर-सम्प्रदाय में क्रम वार मुनि अवस्था को धारण करने का नियम वैज्ञानिक रूप में वर्णित है। वहाँ उदासीन श्रावक अभ्यास करते करते अन्य वस्त्रों का त्याग करके केवल एक कटिवस्त्र रखता है और जब जान लेता है कि इसकी भी आवश्यकता नहीं है तब वह उसको भी त्याग देता है और नग्न मुनि हो जाता है। "तथापि इस प्रकार श्वेताम्बरों के प्रामाणिक

इस परमात्मावस्था में ही आपने सर्वत्र भारत में अपने विशिष्ट ज्ञान का रसपान सर्व लालायित जनता को कराया था। यह ईसा से पूर्व करीब साढ़े पाँच सौ वर्ष की बात है। उस समय भारतीय जनता यथार्थ सत्य के लिए लालायित हो रही थी और थोथे क्रियाकाण्ड एवं निरर्थक हिंसा-बलिदान से ऊब रही थी। उसके नेत्रों में मनुष्य मनुष्य का भेद भी विशेषरूप में खटक रहा था। इसी समय भगवान् महावीर ने अपनी सर्वज्ञ परमात्मावस्था में इनको यथार्थ सत्य का रसपान तीस वर्ष तक अपने समवशरण सहित सर्वत्र विचर कर कराया और उनकी आत्मा को सुख शान्ति का अनुपम मार्ग सुझाया। भारतीय जनता भी उनके इस महत् उपकार से उनकी अटल भक्त होगई। यहाँ तक कि उसने इन भगवान् की

पवित्र विहार निर्वाण और इसका प्रभाव।

ग्रन्थों में भी कहीं ऐसा नहीं पाया जाता जहाँ पर वस्त्र और पात्र के लिए विशेष आग्रह किया गया हो कि इनके बिना मुक्ति ही नहीं, इनके बिना संयम ही नहीं, अथवा इनके बिना कल्याण ही नहीं। उनमें तो साफ़ साफ़ बतलाया गया है कि जो साधु वस्त्र और पात्र रहित रह कर भी निर्दोष संयम पालन कर सकता हो उसके लिए वस्त्र और पात्र की कोई आवश्यकता नहीं।" (देखो सि० भण्डारी (श्वे०) का 'भगवान् महावीर' पृष्ठ ५२१) परन्तु दुःख है कि शास्त्रों के विवरणों में ढूँढ़ने से मामञ्जस्य मिलने पर भी आज इन दोनों सम्प्रदायों में परस्पर घोर द्वेष फैल रहा है। धर्म के नाम पर परस्पर मुकद्दमेबाज़ी हो रही है। यह भगवान् महावीर के अनुयायियों के लिए शोभनीय नहीं है। अब तो प्रेमपूर्वक गले मिलकर लालायित जनता को पवित्र धर्म-पीयूष पिलाने का अवसर है। भाई भाई का मिलना कठिन नहीं है। ध्यान दीजिए।

निर्वाण प्राप्ति के हर्षोपलक्ष में एक जातीय त्यौहार स्थापित किया, जो आज भी 'दीपावली' के नाम से विख्यात है। इसी कार्तिककृष्णा १५ के दिन भगवान् महावीर ने विहार-प्रान्त में अवस्थित मल्लवंशीय राजा हस्तिपाल की राजधानी पावापुरी से निर्वाणावस्था को प्राप्त किया था। उस समय देवों ने आकर उत्सव मनाया था। और भगवान् के मोक्ष-स्थान पर रत्नजटित स्तूप निर्माण किया था। विविध राजाओं ने भी आनन्दोत्सव मनाया था। इस विषय में श्रीगुणभद्राचार्यजी ने उत्तरपुराण पर्व ७६ में लिखा है:—

"क्रमात् पावापुरं प्राप्य मनोहरवनांतरे।
वहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले ॥ ५०६ ॥

स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः।
कृष्णकार्तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये ॥ ५१० ॥

स्वातियोगे तृतीयार्द्धशुक्लध्यानपरायणः।
कृतत्रियोगसंरोधसमुच्छिन्नक्रियं श्रितः ॥ ५११ ॥

हता घातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः।
गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववांछितम् ॥ ५१२ ॥

भावार्थः—श्रीमहावीर भगवान् क्रम से पावापुर के मनोहर वन में आये, जहाँ कमलों के मध्य में एक शिला पर दो दिन विराजमान रहे। प्रभु का विहार बंद हुआ। कर्म की निर्जरा बढ़ने लगी। कार्तिककृष्णा चौदस की रात्रि को समाप्त होते होते तीसरे चौथे शुक्ल ध्यान से चार-अघातिया कर्मों का नाश कर शरीर रहित हो परमगुणवान् प्रभु मोक्ष पधारे। तब ही से यह जातीय त्योहार चला आरहा है। यह आज से क़रीब

२४५१* वर्ष पहिले की बात है। इस त्यौहार के साथ ही उस कृतज्ञ सत्यप्रिय जनता ने भगवान् की स्मृति में एक पवित्र अब्द भी चलाया था। इसकी साक्षी में वीर संवत् ८४ जैसे प्राचीन काल का एक शिलालेख आज भी अवशेष है। यह अजमेर के अजायबघर में मौजूद है और इसको वहाँ के क्यूरेटर रायबहादुर गौरीशंकर ओझा ने पढ़ा है। अतएव हम देखते हैं कि वस्तुतः उस समय भगवान् महावीर की प्रतिभा प्रत्येक भारतवासी के हृदय में घर कर गई थी; अन्यथा यह संभव नहीं था कि उनकी पवित्र स्मृति में उक्त प्रकार राष्ट्रीय त्यौहारादि चालू होते।

वास्तव में उस समय हर अवस्था और जाति के प्राणी को उनके उपदेश से सुखशांति का सच्चा मार्ग प्राप्त होगया था। भगवान् के सर्व-मुख्य शिष्य ब्राह्मण वर्ण से थे। उनके मुख्य गणधर इन्द्रभूति गौतम भी पहिले एक वेदपारंगत कट्टर ब्राह्मण थे। इनका उल्लेख हुएनत्सांग ने भी अपने यात्रा-विवरण में किया है। इनके अतिरिक्त क्षत्रिय राजा लोग तथा राजकुमार और राजकुमारियाँ एवं अन्य

---

* कुछ विद्वान् इस समय से सहमत नहीं हैं। वास्तव में भगवान् का यथार्थ निर्वाण-काल निश्चित करना अति कठिन साध्य है। जो हो इस ओर विद्वानों को ध्यान देते हुए इस बात को विचार में रखना चाहिए कि जिस समय भगवान् सर्वज्ञावस्था में धर्म-प्रचार कर रहे थे उस समय म० बुद्ध की वयस्था ६० से ७० वर्ष की थी। (देखो "वीर" भाग २ संख्या १) तिस पर श्रीयुत विहारीलालजी ने विशेष प्रमाणों से यह समय २५७० सिद्ध किया है। इससे डॉ० जैकोबी भी कुछ कुछ सहमत हैं। (देखो "वीर" भाग २ सं० ३)

कुलीन भव्यगण भी गृहत्याग कर भगवान् के साधुसंघ में सम्मिलित हुए थे। राजा शतानीक राजपाठ त्याग भगवान् के निकट साधु होगये थे। क्षात्र-चूड़ामणि जीवंधर, राजकुमार अभय आदि भी मुनिधर्म में लीन हुए थे। राजकुमारी ज्येष्ठा, चन्दना आदि भी सांसारिक सुख त्याग आर्यिका हुई थीं। इनके अतिरिक्त हज़ारों श्रावक और श्राविका उदासीन रूप में भगवान् के संघ में सम्मिलित थे। राजगृह के सेठ शालिभद्र तथा धन्यकुमार विशेष प्रख्यात थे। वणिकपुत्र सेठ धन्यकुमार का पाणिग्रहण सम्राट् श्रेणिक की पुत्री से हुआ था। इस घटना से उस समय के जातीय विवाह संबंध की उदारता का पता चलता है। आजकल की तरह, मालूम होता है, उस समय विवाह का क्षेत्र संकुचित नहीं था।

भगवान् के शिष्यों में प्रख्यात ब्राह्मण विद्वान् और क्षत्रिय राजा।

भगवान् महावीर के समय में भारत में एक ओर तो मगध, कौशल, वत्स, काशी और अवन्ती आदि राज्यतंत्र थे व दूसरी ओर शाक्य, कालाप, कोलीय, मोरीय, मल्ल, लिच्छवि, विदेह इनमें लोकतंत्र शासन था। इन राजतंत्रों में मगध के राजा श्रेणिक विम्बसार भगवान् महावीर के दृढ़ भक्त थे। इनका पुत्र अंगदेश का शासक कुणिक अजातशत्रु भी प्रारंभ में आपका भक्त था, परन्तु पश्चात् में बौद्ध-संघ के एक नेता देवदत्त के बहकाने से वह बौद्धमती होगया था। श्रेणिक विम्बसार जैन-धर्मानुयायी होने के पहिले बौद्ध-मतानुयायी थे। पश्चात् अपने अंत समय तक वह जैनधर्म के दृढ़ श्रद्धानी रहे थे। कौशल के राजा प्रसेनजीत (Pasenadi) और उनकी

रानी मल्लिका भी भगवान् के भक्त थे यह स्वयं बौद्ध-ग्रंथों से प्रकट है।* तथापि श्वेताम्बराम्नाय के कल्पसूत्र में कथन है कि 'महावीर भगवान् के निर्वाणगमन के हर्षोपलक्ष में कौशल और काशी के १८ राजाओं ने और ९ मल्लक व ९ लिच्छवियों ने दीपमालिकोत्सव मनाया था।' इससे प्रगट है कि यहाँ भी जैन-धर्म की गति थी। कलिंग-देश के यादव-वंशी नृपति जितशत्रु भगवान् महावीर के फूफा थे और वहाँ भी जैनधर्म का प्रचार था। वैशाली के राजा चेटक भी भगवान् के भक्त थे। दशार्ण-देश के कच्छपुर के स्वामी सूर्यवंशी राजा दशरथ और कच्छदेश के रोरुकपुर के राजा महातुर भगवान् के निकट सम्बन्धी थे। इनके भी यहाँ भगवान् के धर्म की गति थी।

---

*मि० लॉ अपनी पुस्तक The Life and work of Buddhagosha के पृष्ठ ११४ पर लिखते हैं:—"The Papancasudani names........... Pasenadi was the ruler of Kosala at the time Buddha preached his religion. *Pasenadi was envious of the Buddha.* At first he sided with the heretics against the Buddha............Even after Pasenadi's initiation, he did not disregard other Sadhus and hermits, *e. g.* the Tatilas. *Niganthas*, the Acholkas *etc.*, इससे प्रकट है कि इसे भगवान् के संघ से भी प्रेम था। उसकी रानी मल्लिका ने एक सभागृह बनवाया था जो The Hall कहलाता था। इसमें तापस, निगन्थ (जैनी) अचेलक आदि धर्म-प्रचारक सम्मिलित हो सैद्धान्तिक विवेचना किया करते थे। (Ibid p. 109)

लोकतंत्रराज्यों में विदेह और लिच्छवियों में जैनधर्म का उत्कृष्ट प्रचार था*। वत्स और कोलीय जातियों के राजा भी भगवान् के भक्त थे। मोरीय अथवा मौर्य-जाति के विख्यात राजा चन्द्रगुप्त मौर्य्य पश्चात् में जैनधर्म के परम अनुयायी थे, यह प्रकट है। शेष में शाक्यों के यहाँ भी बुद्धदेव के प्रारंभिक समय में जैनधर्म का प्रचार था ऐसा प्रकट होता है। तिब्बत-भाषा के बौद्धग्रंथ ललित विस्तार में लिखा है कि "जब गौतमबुद्ध शिशु था तब अपने सिर में ऐसे चिह्नवाले लक्षण पहिनता था:—श्रीवत्स, स्वस्तिका, नंद्यावर्त और वर्द्धमान।" † इन चिह्नों में पहिले तीन तो सीतलनाथ, सुपार्श्वनाथ तथा अर्हनाथ तीर्थङ्करों के चिह्न हैं तथा चौथा श्री महावीर स्वामी का नाम है। अस्तु इससे प्रकट है कि शाक्य घराने में जैनधर्म की मान्यता थी। तिस पर जैनशास्त्रों का कथन है कि म० बुद्ध ‡ ने पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थकाल

---

* See The Kshatriya clans in Buddhist India, p. 82.

† See Jainism: The Early Faith of Asoka.

‡ जो लोग म० बुद्ध और भ० महावीर को एक व्यक्ति समझ कर जैनधर्म और बौद्धधर्म को एक ही धर्म अथवा जैन-धर्म को उससे निकला हुआ समझते हैं वह ग़लती करते हैं। हम पहिले ही जैनधर्म के संस्थापक श्रीऋषभदेव का उल्लेख वेदों में होना बतला चुके हैं। इससे प्रमाणित है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से निकलने के स्थान पर ऋग्वेद से भी प्राचीन है। दूसरे म० बुद्ध और भ० महावीर की जीवन-घटनायें तथा धर्म-सिद्धान्त इस व्याख्या को निर्मूल सिद्ध कर देते हैं, जैसे भ० महावीर का जन्म वैशाली के निकट कुंडग्राम में हुआ था जब कि बुद्ध

के पिहिताश्रव नामक मुनि से दीक्षा ली थी। पश्चात् वह परीषह न सह सकने के कारण भ्रष्ट हो गये और अपने 'मध्य-

---

का कपिलवस्तु में; बुद्ध के जन्मते ही उनकी माता मर गईं, भ० महावीर की माता उनके दीक्षा-समय तक जीवित रहीं; बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्यवंशी थे, भ० महावीर के पिता सिद्धार्थ नाथवंशी थे; भ० महावीर आठ वर्ष की अवस्था से ही श्रावक के व्रत पालते थे; बुद्ध ३० वर्ष तक धर्म से अनभिज्ञ रहे।

बुद्ध ने २९ वर्ष की अवस्था में गृहत्याग कर राजगृह की ओर प्रस्थान किया था; भगवान् महावीर ने करीब ३० वर्ष की आयु में दिगम्बर मुनि हो सर्व प्रथम कूलनगर में प्रवेश किया था; उपरान्त भगवान् ने १२ वर्ष का दुर्द्धर तपश्चरण किया था तथा उन्हें ४२ वर्ष की अवस्था में सर्वज्ञावस्था प्राप्त हुई थी; बुद्ध ने गृहत्याग कर किसी एक मत का अनुसरण नहीं किया था—वह जैन मुनि भी रहा था—परन्तु अंत में तपश्चरण की कठिनता से घबड़ा कर उसने अपने मध्यमार्ग को ढूँढ निकाला था, जिसका प्रचार वह करीब ३६ वर्ष की अवस्था से करने लगा था। वह अपने को अर्हंत कहते हुए भी साधारण मनुष्य की भाँति भोजन पान करता था और शङ्काओं से भी परे नहीं था तथापि उसे मृत-मांस के खाने का भी त्याग नहीं था। वह अपनी अर्हंता-वस्था में पुनः एक बार अपने मातापिता और पत्नी-पुत्र को दर्शन देने अपने घर आया था, तथा मध्यमार्ग का उपदेश जब उसने अपने पहिले के पाँच शिष्यों को दिया था तब उनसे अपने आपको "तथागत" कहने का आदेश किया था। (देखो महावग्ग, प्रथम भाग VI. 1[illegible]) परन्तु महावीरजी जब सर्वज्ञ-अर्हंत हो गये तब उनकी सत्ता में वह कर्मप्रकृतियाँ नष्ट हो गईं जिनसे उनको किसी प्रकार की वेदना सहन करनी पड़ती और वह कवलाहार करते तथापि उनकी सर्वज्ञावस्था सर्व लोक प्रकट हो गई। इधर जब बुद्ध की मृत्यु ८० वर्ष की अवस्था

मार्ग' का प्रचार करने लगे। जैनमुनि होना स्वयं बुद्धदेव ने भी स्वीकार किया है; क्योंकि वह एक स्थान पर कहते हैं कि

में हुई तब भगवान् महावीर को मोक्षलाभ क़रीब ७२ वर्ष की अवस्था में हुआ। इस प्रकार दोनों महान् पुरुषों की जीवन-घटनाओं में बिल्कुल अन्तर दिखलाई पड़ता है। तिसपर बौद्ध-ग्रन्थों में भगवान् महावीर का उल्लेख एक से अधिक स्थान पर आया है; जिससे उनका बुद्धदेव से अलग व्यक्ति होना प्रमाणित होता है। उधर यदि हम दोनों महानुभावों के धर्मोपदेश पर ध्यान दें तो भी दोनों का पृथक्त्व प्रमाणित होता है। म० बुद्ध ने तो स्वयं एक नवीन मत की स्थापना की थी परन्तु भ०महावीर ने परम्परा से चालित जैनधर्म का उद्धार-मात्र किया था। उनके धर्मोपदेश का दिग्दर्शन पाठकों को इस पुस्तक में अगाड़ी हो जायगा। उससे यदि म० बुद्ध के धर्मोपदेश से मुक़ाबिला किया जाय तो ज़मीन आसमान की विभिन्नता प्रकट हो। भ० महावीर के और म० बुद्ध के उपदेशों में सबसे बड़ा अन्तर तो यही है कि जब बौद्धधर्म में "आत्मा" के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है तब जैनधर्म में आत्मा मानी गई है। म० बुद्ध ने साफ़ शब्दों में निम्न बातों का उत्तर देना अस्वीकार किया था अर्थात्:—

(१) क्या जगत् अनादि निधन है ? (२) अथवा वह अनादि निधन नहीं है ?

(३) क्या वह अनन्त है ? (४) अथवा अनन्त नहीं है ?

(५) क्या आत्मा वही है जो शरीर है ? (६) अथवा आत्मा भिन्न पदार्थ है और शरीर भिन्न पदार्थ ?

(७) जिसने सत्य को पा लिया है वह मृत्यु के उपरान्त भी क्या जीवित रहेगा ?

(८) अथवा वह मृत्यु के उपरान्त नहीं रहेगा ?

(९) क्या वह रहेगा भी और नहीं रहेगा भी ?

"मैं बालों और डाढ़ी को उखाड़नेवाला भी था और शिर एवं मुख के बाल नोचने की परीषह भी सहन कर चुका हूँ।"

(१०) अथवा न वह जीवित रहेगा और न नहीं जीवित रहेगा भी? See The Dialogues of Buddha—Potthapada Sutta—P. 254.)

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उसने आत्मा, जगत् और निर्वाण के विषय में अपना कुछ भी मत प्रकट नहीं किया है। परन्तु यह निश्चित है कि उसने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। बौद्ध-धर्म के माननीय विद्वान् ह्रीस डेविड्स साफ़ तौर से लिखते हैं कि:—Now the central position of the Buddhist alternative to those previous views of life was this—that Gotama not only ignored the whole of the soul theory but even held all discussion as to the ultimate soul problems.........as not only childish and useless, but as actually inimical to the only ideal worth striving after—the ideal of a perfect life, here and now, in this present world, in Arahatship." (See The Buddhism: its History and Liter: P. 30).

भावार्थ रूप में यह प्रकट है कि बुद्धदेव के निकट आत्मा का सिद्धान्त केवल उपेक्षणीय ही नहीं था प्रत्युत वह समझता था कि वह मेरे माने हुए जीवनोद्देश्य "अर्हन्तावस्था" में भी बाधक है। अतएव बौद्धधर्म और जैनधर्म का सबसे बड़ा सैद्धान्तिक अन्तर दृष्टिगत है। अब ज़रा उनके जीवनोद्देश्य 'अर्हन्तावस्था' को ले लीजिए! शब्द के नाम से हमारे बहुत से भाई इसका अर्थ सशरीरी परमात्मा ही समझ लेंगे, परन्तु बुद्धदेव के निकट इसके यह भाव नहीं है। जिस प्रकार जैनधर्म में किए

(See Saunder's Gotama Buddha, p. 15) यहाँ पर संकेत जैनमुनि की केशलुंचन क्रिया की ओर है। इसके अति-

---

हुए शब्द "आश्रव" आदि का निरूपण म० बुद्ध ने शब्दार्थ भाव में नहीं किया है वैसे ही इसमें समझना चाहिए। जैन-कर्म-सिद्धान्त में व्यवहृत शब्दों को बौद्धों ने जैनियों से लिया है इस बात को डा० जैकोबी ने सप्रमाण सिद्ध किया है। (See the Encyclopædia of Religion and Ethics, Vol. VII. Pp. 472.) हाँ तो बौद्धों के निकट अर्हतावस्था एक विभिन्न पदार्थ है। उनका विश्वास है कि जगत् में कोई भी वस्तु नित्यात्मक नहीं है और न कोई स्वतन्त्र व्यक्ति है। केवल अवस्थायें हैं। There is no being,—there is only a becoming. इन अवस्थाओं में दुःखों का कारण उस अवस्था को नष्ट होने में रुकावट डालने से है। मि० ह्रीसडेविड्स यही कहते हैं— " The unity of forces which consitutes essential Being must sooner or later be dissolved ; and it is to this effort to delay that dissolution that all sorrow and all pain are due." (See The Budhism, its History and Lit. P. 124.) बस बौद्ध कहते हैं कि "यह मैं हूँ और यह मेरा है" इसको भूल कर तृष्णा को घटाते हुए बुद्ध-धर्म और संघ की शरण आने से 'अर्हतावस्था' प्राप्त होती है। अर्हतावस्था इसी जन्म में प्राप्त होगी। भविष्य के लिए आशा भरोसा करना निरर्थक है। वर्तमान के व्यक्ति के शुभ कर्मों का एक दूसरा ही व्यक्ति अगाड़ी उत्पन्न होता है और मौजूदा व्यक्ति नष्ट हो जाता है। कर्म में यह एक 'उपादान' शक्ति उन्होंने मानी है जो वर्तमान के व्यक्ति के किये हुए कर्मों को आगामी एक नवीन व्यक्ति में परिणति करती है। अर्हता-वस्था में व्यक्ति, कहते हैं, इस उपादान शक्ति को नष्ट कर देता है, जिससे उसके कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। बस यही अर्हतावस्था और उसका

रिक्त बौद्धग्रन्थ 'महावग्ग' में लिखा है कि बुद्ध ने अपने पहिले के २४ बुद्धों (जिनों) को देखा था। डॉ० स्टीवेन्सन साहब

निर्वाण है। शून्यता में गर्त होना ही इसका पाठ है। ह्रीसडेविड्स महोदय भी इसी की पुष्टि करते हैं। वह लिखते हैं:—" The victory to be gained by the destruction of ignorance (of Individuality) is, in Gotama's view, a victory which can be gained and enjoyed in this life and in this life only. This is what is meant by the Buddhist ideal of Arhataship—the life of a man made perfect by insight, the life of a man who has travelled along the "Noble-eight-fold path" and broken all the "fetters", and carried out in its entiroty. the Buddhist system of self-culture and self-control." (Ibid. P. 163.)

यह जैनियों की अर्हंतावस्था से कितनी विलक्षण है यह साफ़ प्रकट है। जिस पर उनका निर्वाण भी कोई नित्यात्मक वस्तु नहीं है। नष्टता ही उनका ध्येय है। इसलिए उनके यहाँ कोई निर्वाणस्थान भी नहीं माना गया है। (See the Question of King Milinda, Vol. II.pp. 202-204. जब कि जैनसिद्धान्त में एक ख़ास निर्वाणस्थान माना गया है। इस विवरण से जैनियों के और बौद्धों के कर्म-सिद्धान्त में भी अन्तर पड़ जाता है। यहाँ कर्म-सिद्धान्त एक स्वतंत्र नियम (Unsubstantial Law) बन जाता है जब कि जैनियों के निकट वह एक संसारी आत्मा के बंध का कारण है। इस प्रकार सैद्धान्तिक अन्तर भी हम दोनों धर्मों में विशेष पाते हैं। बौद्धों के यहाँ जीवत्व केवल मनुष्य, तिर्यञ्च और वृक्षों में माना गया है

इनको जैन तीर्थङ्कर बतलाते हैं। अतएव इससे प्रकट है कि शाक्य-घराने में भी जैनधर्म का प्रचार था। यूनान-देशवासी

तब जैनी उनके साथ साथ जल, अग्नि और पृथ्वी में भी मानते हैं। यही कारण है कि दोनों के आचार-नियमों में भी अंतर पड़ गया है। जैन-अहिंसा और बौद्ध-अहिंसा में बड़ा भारी अन्तर है। जैन-दृष्टि में वह हिंसा ही है। मृत पशुओं का मांस खाना उसमें जायज़ है। यही कारण है कि आज के बौद्ध मांसभक्षी हो गये हैं। उनके और जैनियों के संघ में भी अन्तर है। बौद्धसंघ में केवल भिक्षु-भिक्षुणी रहते थे परन्तु जैनियों के संघ में श्रावक-श्राविका भी सम्मिलित थे। तिस पर बौद्धों के साधुओं को कपड़े पहिनने, एक से अधिक बार भोजन करने, मांस खाने आदि की रियायत है, परन्तु जैन-साधुओं में यह बातें नहीं हैं। वह एक बार भोजन-मात्र शरीर-रक्षा-हेतु करेगा तथा नग्न रह समताभाव से परीषह सहन कर आत्म-ध्यान में लीन रहेगा। जैन-मुनियों का नग्नवेश होना तो स्वयं बौद्धग्रंथों से प्रमाणित है। ईसा से पूर्व की छठी शताब्दी में प्रचलित बौद्ध कथाओं की पुस्तक जातकमाला में "घड़े की कथा में" (The story of jar.) उल्लेख है कि:—" Even the bashful loose shame by drinking it and will have done with the trouble and restraint of dress; *unclothed like Nirgranthas* (Jains) they will walk boldly on the highways, etc." (See The Garland of Birth Stories by Arya Sura, translated by J. S. Speyer. S. B. B., Vol. I., P. 145.) इससे प्रकट है कि निर्ग्रन्थ अर्थात् जैन-मुनि नग्न रहते थे। अनुवादक महोदय ने भी फुटनोट में यही लिखा है कि The Nirgranthas are a class of monks especially Jain monks, who wander

जो कालान्तर में सीमाप्रान्त पर वस गये थे वह भी भगवान् के धर्म के परमभक्त हुए थे। मि० विमलचरण लॉ० एम० ए०

---

about naked. अतएव इन बातों से सिद्ध है कि म० बुद्ध और भगवान् महावीर एक व्यक्ति नहीं थे और न उनके धर्म ही एक थे। प्रत्युत खोज करने से यह प्रमाणित होता है कि जैनमुनि अवस्था से भ्रष्ट होकर ही म० बुद्ध ने अपने धर्म की नींव डाली थी जो कोई सैद्धान्तिक धर्म न होकर प्रारंभ में एक सुधारमात्र था। वह हिन्दू-धर्म के क्रिया-काण्ड और जैनियों के कठिन तपश्चरण के मध्य एक राज़ीनामा था।

अब जब कि जैनधर्म बौद्धधर्म से पृथक् है तब क्या यह संभवित है कि वह हिन्दू-धर्म की शाखा हो? इसके उत्तर में हम प्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी के निम्न शब्द ही पेश करेंगे कि:—

"Whether I still thought Jainism an offshoot of Hinduism, for it was believed that I had given expression to that opinion in the introduction of Jain Sutras in the Sacred Books of the East. Now I have never been of the opinion that Jainism is derived from Hinduism or Brahmanism. I believe that Jainism is in the main an independent religious system, but as the Jains always lived amongst the Hindus, they most probably exchanged ideas with them and adopted some of theirs." See The Jain Svetambara Conference Herald Vol. X. PP. 252—253.)

भावार्थ कि जैनधर्म हिन्दू-धर्म की शाखा नहीं है यद्यपि यह संभव है कि साथ साथ रहने के कारण जैनधर्म पर हिन्दु-धर्म का प्रभाव पड़ा हो। इस प्रकार जैन-धर्म को हम एक स्वतंत्र धर्म पाते हैं।

अपनी पुस्तक The Historical Gleanings के पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं कि "क़रीब ईसा से पहिले की दूसरी शताब्दी में जब यूनानी लोगों ने अधिकांश पश्चिमीय भारत पर आधिपत्य जमा लिया था तब जैनधर्म का प्रचार उनके मध्य हो गया था। और इस धर्म के नायक की मान्यता भी उनके मध्य अधिक थी; जैसे कि बौद्धग्रन्थ 'मिलिन्दपह्नो' के एक कथानक से विदित है। उस कथानक में कहा गया है कि ५०० योद्धाओं (यूनानियों) ने राजा मिलिन्द (मेनेन्डर) से निग्गन्थनातपुत्त (महावीर) के पास चलने को कहा और अपने मन्तव्यों को उनके निकट प्रकट करने के लिए एवं अपनी शङ्काओं को निर्वृत्त करने को भी कहा।" इससे यह भी प्रकट है कि राजा मिलिन्द भी संभवतः भगवान् महावीर के भक्त थे। इस अनुमान की पुष्टि उसी बौद्धग्रन्थ के इस वर्णन से भी होती है कि नागसेन के गुरु ने अपने शिष्य के मन के नीच भाव को जान लिया और नागसेन को उसके लिए दुतकारा। नागसेन के क्षमा-प्रार्थना करने पर गुरु ने कहाः—"I will not forgive you until you go and defeat King Milinda, who troubles the monks by asking questions from the heretic's point of view." * अर्थात् जब तक तुम राजा मिलिन्द को परास्त नहीं कर दोगे, जो एक मिथ्यात्वी की भाँति भिक्षुओं से प्रश्न करता है, तब तक मैं तुम्हें क्षमा नहीं करूँगा। अतएव कहना होगा कि राजा मिलिन्द भी किसी समय अवश्य जैनधर्म का श्रद्धानी रहा था। जो हो इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् महावीर के

---

* See The life and work of Buddhaghosha p. 37.

वैज्ञानिक धर्म का प्रचार सर्व में सर्व ओर हो गया था। और उनके पश्चात् वही विदेशों में भी व्याप्त हो गया था। परन्तु दुःख है कि आज वह गौरवगरिमा सब लुप्त हो गई है।

इस प्राचीन गौरव का दिग्दर्शन करने के साथ ही हमें भगवान् के दिव्योपदेश की यथार्थता और विशेषता भी स्वीकृत करनी पड़ती है, जैसे कि भगवान् समन्तभद्राचार्य ने उक्त श्लोक में प्रकट की है; क्योंकि यदि उसमें यथार्थता और विशेषता न होती तो यथार्थ सत्य के लिए लालायित जनता क्योंकर उनकी प्रतिभा को स्वीकार कर कृतज्ञ-हृदय होती? इस व्याख्या की पुष्टि में हम म० बुद्ध के वचनों की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिनके द्वारा उन्होंने भगवान् महावीर की सर्वज्ञता और उनके मत की यथार्थता के प्रति सद्भाव प्रकट किये हैं। यह वचन बौद्धग्रन्थ 'मज्झिमनिकाय' में अङ्कित है। (See The Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. II p. 70.) तिस पर म० बुद्ध पर ही भगवान् के दिव्य जीवन का प्रभाव नहीं पड़ा; प्रत्युत जो पाखंड पन्थ उस समय प्रचलित हो गये थे, वह सब लुप्त हो गये अथवा अपनी प्रधानता को खो बैठे। जैसे कि आजीवक सम्प्रदाय के उदाहरण से व्यक्त है। जिस समय भगवान् महावीर का उपदेश हुआ उस समय अधिकांश आजीवकगण उनके संघ में सम्मिलित हो गये (See The Ajivakas, Pt. I., by Dr. B. M. Barua) और उनके संस्थापक मक्खाली गोशाल का प्रभाव इतना हीन पड़ा कि वह स्वयं एक 'पागल की भाँति मृत्यु को प्राप्त हुआ'

दिव्योपदेश का अन्य धर्मों पर प्रभाव।

(See The Heart of Jainism. p. 60) बौद्ध-संघ में भी इस उपदेश से हलचल मच गई और उनमें से कितनेक भिक्षु तपश्चरण की अधिकता, मांसभक्षण के त्याग आदि की आवश्यकता पर ज़ोर देने लगे। वस्तुतः भगवान् के दिव्योपदेश से चहुँ ओर ज्ञान का प्रकाश हुआ और सर्वप्रकार के जीव उनके संघ में सम्मिलित हो आत्मकल्याण करने लगे। अतएव हम उस समय के धार्मिक संसार की वाह्य घटनाओं से भगवान् महावीर के दिव्योपदेश की यथार्थता और विशेपता के दर्शन करते हैं। जिसके विषय में कविसम्राट् डॉ० रवीन्द्रनाथ टागोर कहते हैं कि "आश्चर्य्य का विषय है कि (भगवान् महावीर की) इस शिक्षा ने मनुष्य मनुष्य के भेद को दूर हटा दिया और समग्र देश को अपने वश कर लिया।"

अतएव इस सर्व विवरण से हमको भगवान् महावीर के उपदेश की विशेषता दृष्टिगत हो जाती है। और इस बात का पूर्ण विश्वास हृदय में स्थान पा लेता है कि वस्तुतः भगवान् महावीर का दिव्योपदेश महत् सत्य ही होगा कि जिसके विषय में उनके काल की प्राचीन जनता ही नहीं बल्कि आधुनिक विद्वान् भी चमकते हुए शब्दों में कृतज्ञता स्वीकार करते हैं। साथ ही यह वर्णन हमारे हृदय में यह उत्कण्ठा उत्पन्न कर देता है कि वस्तुतः वह उपदेश क्या था? इसलिए हम उसका यहाँ पर अवश्य ही साधारण दिग्दर्शन करेंगे।

भगवान् महावीर ने अपनी सर्वज्ञावस्था में जो उपदेश हमें दिया था, वह उन्हीं के शब्दों में आज अवश्य ही हमको प्राप्त नहीं हैं परन्तु तो भी हम अपने पूर्वाचार्य्यों के अतीव

आभारी हैं कि उन्होंने अपनी महोघ स्मृति-द्वारा उसकी इस खूबी से रक्षा की कि वह आज भी हमको प्राप्त है, यद्यपि समग्र रूप में नहीं।

भगवान का दिव्योपदेश।

यह उपलब्ध उपदेश आज अतुल जैन-साहित्य-ग्रन्थों में ओतप्रोत भरा हुआ है। अतएव इस छोटे से निबन्ध में उसका दिग्दर्शन कराना अतीव दुस्साध्य ही कहा जायगा। तो भी उस ओर प्रयत्नशील हो हम उसका किञ्चित् भान अवश्य ही प्राप्त करेंगे।

यह तो हम देख ही चुके कि भगवान् महावीर सर्वज्ञ परमात्मा थे। इसलिए उनका उपदेश अवश्य ही 'ईश्वरीय वाणी' था, यह मानना पड़ेगा। किसी ईश्वरीय वाणी के सम्बन्ध में कहा गया है कि:—

"(१) वह सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान् द्वारा उत्पन्न होती है।

(२) वह तर्क-वितर्क में किसी प्रकार खण्डन नहीं की जा सकती अर्थात् न्याय उसका विरोध नहीं कर सकता॥

(३) वह प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (साक्षी) से सिद्ध होती है।

(४) वह सर्वजीवों की हितकारी होती है, अर्थात् वह किसी प्रकार भी किसी प्राणी के दुःख या कष्ट का कारण नहीं हो सकती। जानवरों को भी दुःख और कष्टकारक नहीं हो सकती।

(५) वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप की सूचक है। और—

(६) उसमें धार्मिक विषय की भूल और भ्रम को दूर करने की योग्यता होती है।" ('रत्नकरण्डश्रावकाचार'—देखो "सनातन जैनधर्म" पृष्ठ ३३)

अतएव भगवान् महावीर का उपदेश अवश्य ही 'ईश्वरीय वाणी' था, क्योंकि वह सर्वज्ञ तीर्थङ्कर थे। जब उसकी उत्पत्ति ही उचित है तो उसके शेष लक्षण भी उक्त प्रकार अवश्य होना चाहिए। इसलिए हम उसके साधारण दिग्दर्शन-द्वारा उसमें उपर्युक्त लक्षणों को भी देखने का प्रयत्न करेंगे।

भगवान् महावीर का उपदेश वैसे तो सर्वाङ्गपूर्ण था ही; परन्तु यहाँ हम उसको सैद्धान्तिक एवं लौकिक दोनों दृष्टियों से देखेंगे। सैद्धान्तिक दृष्टि से हम देखेंगे कि वह किस प्रकार आत्मा-सम्बन्धी सर्व-शङ्काओं को दूर कर देता है और जगत् की समस्या को किस प्रकार कार्य-कारण-सिद्धान्त पर हल करता है।

जगत् क्या है ?

भगवान् ने बतलाया था कि यह जगत् जिसमें कि हम रहते हैं और वह भी जो हमारे अनुभव और दृष्टि से परे है, अनादि निधन है। वह इसी रूप में अनादि से था और ऐसा ही हमेशा रहेगा; यद्यपि यह अवश्य है कि उसकी अवस्थाओं और दशाओं का परिवर्तन सदैव हुआ करता है। वर्तमान विज्ञान (Science) भी आज भगवान् के उपदेश के समान ही किसी जगत्कर्त्ता के अस्तित्व को नहीं मानता है। और उसका विश्वास उसी अनुरूप में है कि 'यदि प्रकृति किसी ऐसे व्यक्ति को उत्पन्न कर सकती है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वह एक सर्व वस्तुओं से परिपूर्ण एवं विकास-शक्ति से भरपूर जगत् को उत्पन्न कर सके! यदि किसी कर्ता के अस्तित्व को माना जावे तो उस माने हुए कर्ता का भी कोई कर्त्ता होना चाहिए और फिर उस कर्त्ता के कर्त्ता का भी कोई कर्त्ता होना

चाहिए, इत्यादि। (यह बुद्धि के प्रतिकूल है।) साधारणतया इसका यही अर्थ है कि जब एक अकृत्रिम कर्त्ता की सत्ता मानी जा सकती है तब एक स्वयं परिपूर्ण एवं स्वयं सत्तात्मक जगत् को अकृत्रिम मानने में किसी प्रकार न्याय के नियमों का खंडन नहीं हो सकता है।'* इस प्रकार यथार्थरूप में हम भगवान् महावीर के बताये अनुसार जगत् को अनादिनिधन अकृत्रिम पाते हैं। अब हमें देखना है कि इस जगत् में है क्या? इसका कार्य किस शक्ति के आधार पर चल रहा है? क्या इसमें दुःख के स्थान के अतिरिक्त कहीं परमसुखपूर्ण स्थान भी है?

भगवान् महावीर ने बतलाया था कि यह जगत् छः द्रव्यों से भरपूर है। उन ही की अवस्थायें इसमें सदैव हुआ करती हैं। और इसमें दुःख से परे एक परमसुखपूर्ण स्थान है। यह इस जगत् के शिखर पर विद्यमान है। यह छः द्रव्य इस प्रकार हैं:—

छः द्रव्य और उनका स्वरूप।

(१) जीव (२) पुद्गल (३) धर्म (४) अधर्म (५) आकाश (६) और काल। जीव वह पदार्थ है जो प्रत्येक जीवित प्राणी में "मैं" के रूप में विद्यमान है। यह जानता और देखता और अनुभव करता है। पुद्गल वह वस्तु है जो इसके विपरीत है अर्थात् ज्ञान और चेतनाहीन है। "मृतक शरीर है।" अतएव इस प्रकार प्रत्येक जीवित पदार्थ दो पदार्थों का संयुक्त है—जीव और पुद्गल। यह जीव और पुद्गल का

---

*देखो जैन-कर्म्म-सिद्धान्त पृष्ठ ५-६।

संबंध अनादि से है। और यह दोनों ही अनादि और अनन्त हैं। इन दोनों के संयुक्त रूप अवश्य बदलते रहते हैं, परन्तु इनकी यह संयुक्तावस्था वैसी ही बनी रहती है। यह संयुक्तावस्था वैसी ही है जैसी आक्सीज़न और हाइड्रोज़न गैसेस की संयुक्तावस्था अर्थात् पानी। जिसमें गैसेज़ के गैसरूप लक्षण का नाश नहीं हो जाता, यद्यपि वह अदृश्य अवश्य हो जाता है। जीव के निजी स्वभाव वा लक्षण निम्नप्रकार समझना चाहिए जो यद्यपि इस संयुक्तावस्था में अदृष्ट हैं परन्तु वह उसके अस्तित्व में अवश्य विद्यमान हैं:—(१) अनन्त दर्शन (२) अनन्त ज्ञान (३) अनन्त वीर्य्य (४) और अनन्त सुख। यही आत्मा के निज स्वभाव हैं। पुद्गल से उसका सम्बन्ध है इस कारण वह उसकी वर्तमान अवस्था में ओझल हैं। यह पुद्गल से मेल अनादिकाल से है। इस मेल के रूप में यह जीव संसार में घूमता है और उसके रूप अवश्य बदलते रहते हैं। इनके प्रारम्भ के लिए अनन्त (Infinity) में चले जाइए। जिस प्रकार एक समुद्र का यात्री समुद्र-रेखा (Horizon) पर कभी नहीं पहुँच सकता उसी प्रकार इस काल और आकाश का पार पाना असाध्य है, जिसमें कि जीव और पुद्गल का सम्बन्ध हुआ है। काल भी अनन्त है और आकाश भी, जो जीवात्मा को स्थान देता है। जिस प्रकार जिस स्थान पर जब जहाज़ होगा वहीं पर समुद्र-रेखा भी होगी, उस तक वह पहुंच नहीं पायगा, उसी तरह इस प्रारंभ के लिए कोई भी काल और कोई भी स्थान हम ले लें परन्तु उसके पहिले भी वही बात मौजूद मिलेगी। और यह भी समझने की बात है कि बिना पुद्गल और जीव

के मेल के संसार का कार्य चल नहीं सकता। अकेले जीव और पुद्गलाणु इस संसार में भरे रहें तो भी उसमें हलन चलन नहीं हो सकती। यह दोनों पदार्थों की संयुक्तावस्था का ही कार्य है कि संसार में जीवित प्राणी चल रहे हैं अर्थात् उत्पन्न होते—रहते—और मरते हैं। इस हलन-चलन में जो वस्तु ठहरने वा विश्राम लेने में सहायक है वही अधर्म द्रव्य है। यह द्रव्य जीवात्मा को अपने संसार-परिभ्रमण में यात्री और वृक्ष की छायावत् सहायक है। कहते हैं कि यह द्रव्य अँग्रेज़ फिलासफर Newton की Theory of Gravitation के सदृश कुछ कुछ है। अब यदि संसार में वा जगत् में अधर्म द्रव्य ही होती तो जीवात्मा की हलन-चलन की क्रिया रुक जाती, वह अधर्म द्रव्य में आश्रय पा बैठ जाती। इसी लिए "धर्म" द्रव्य आवश्यक है। वह जीवात्मा के स्वयं हलन-चलन में सहायक है, जिस प्रकार कि मछली को चलने में जल सहायता करता है। धर्म अधर्म पुद्गल की गति और स्थिति में भी सहायक है। इसके बाद दो पदार्थ वह हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर भी कर चुके हैं। अर्थात् आकाश और काल। आकाश अनन्त हैं। कालद्रव्य असंख्यात हैं। आकाश अन्य द्रव्यों को स्थान देता है। और काल अकारण रूप में परिवर्तन उत्पन्न करने में सहायक है। इस तरह षट् द्रव्यों का स्वरूप है, जिनसे कि यह जगत् बना हैं। इस प्रकार भगवान् महावीर के उपदेश से कार्य-कारण के वैज्ञानिकरूप में वह समस्या सहज में हल हो जाती है जिसको लोग एक 'गोरखधन्धा' ही समझे बैठे हैं। सारांशतः यह गोरखधन्धे का पेच इस तरह हल होता है कि जगत

अनादिनिधन है। इसमें छः द्रव्य हैं। अनन्त जीव हैं। और अनन्त पुद्गल। यह दोनों मिले हुए हैं। इस कारण संसार में हलन-चलन हो रही है अर्थात् जीवात्मा का संसार-परिभ्रमण हो रहा है। यह परिभ्रमण क्रम कर नियमित रहे इसलिए विश्राम के अर्थ अधर्म द्रव्य और चलने के अर्थ धर्म द्रव्य सहायक रूप में हैं। इन सब द्रव्यों को स्थान देने के लिए आकाश द्रव्य और परिभ्रमण में रूपान्तर उपस्थित करने के लिए काल द्रव्य विद्यमान है। इस प्रकार स्वयं सिद्ध अनादिनिधन यह जगत् है। प्रत्येक जीवात्मा उपर्युक्त द्रव्यों के साथ स्वयं जगत् बना रहा है।

क्या जैन-धर्म नास्तिक है?

संभव है कि इस पर से कहा जाय कि इस रूप में भगवान् महावीर ने नास्तिक धर्म का प्रतिपादन किया था; परन्तु यह शङ्का केवल भ्रम ही समझना चाहिए, क्योंकि कहा गया है कि जो आवागमन के सिद्धान्त को और आत्मा को स्वीकार न करे वही नास्तिक है। भगवान् महावीर ने इन बातों को स्वीकार किया है। तिस पर इस विषय में एक विद्वान् के निम्न विचार पठनीय हैं अर्थात्:—

"इस सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि जैनसिद्धान्त और वैदिक दर्शनों में एक ही साधारण नियम पाया जाता है। यदि संस्कृत के विद्वान् न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य और योगदर्शनों में देखने का प्रयत्न करें तो वह अवश्य ही इस बात को पालें कि किसी भी भारतीय दर्शन के अनुसार सृष्टिकर्तृत्व का सिद्धान्त प्रमाणित नहीं होता है अर्थात् किसी भी भारतीय दर्शन ने

जगत् का कोई कर्त्ता स्वीकार नहीं किया है। यदि इसी कर्तृत्व-वाद के न मानने के कारण जैनधर्म नास्तिक बतलाया जावे तो उसी रूप में यही विशेषण प्रत्येक भारतीय दर्शन के साथ लगाना पड़ेगा। (दूसरे शब्दों में प्रत्येक भारतीय धर्म नास्तिक कहा जायगा।) आस्तिक दर्शन के मुख्य विशेषण तीन कहे गये हैं और यह तीनों ही छः हिन्दू-दर्शनों के साथ साथ जैन-सिद्धान्त में भी स्वीकृत हैं; अर्थात् (१) आत्मा (२) मोक्ष और (३) मोक्ष-मार्ग। जैनधर्म में एक आस्तिक-धर्म के इन विशेषणों का प्रतिपादन हम उचित वैज्ञानिक रीति में पाते हैं।"
(See Jain Gazette, Vol. XX P. 17.)

अतएव भगवान् महावीर के उपदेश से जगत् के अस्तित्व की स्वाधीनता का दिग्दर्शन करके अब हमें देखना चाहिए कि उन्होंने आत्मा की दुःखावस्था आदि के सम्बन्ध में क्या कहा है? जीवात्मा के सम्बन्ध में विचार करने से हमें भगवान् के उपदेश से यह ज्ञान प्राप्त होता है कि उनके अनुसार जीवात्मा मुख्यतः दो प्रकार के हैं:—(१) संसारी (२) सिद्ध। संसारी आत्मा वह आत्मा है जो इस जगत् में पुद्गल के साथ वेष्ठित हुई परिभ्रमण कर रही है और सिद्धात्मा वह आत्मा है जो इस सम्बन्ध को त्याग चुकी है और अपनी स्वाभाविक अवस्था में छः द्रव्य कर पूर्ण जगत् के शिखर पर विराज-मान है। इस प्रभेद से दूसरी बात यह मालूम हुई कि जगत् में रुलती हुई आत्मा अवश्य ही पुद्गल के सम्बन्ध को त्याग सकती है और अपने असली स्वभाव को पा सकती है।

जीव का स्वभाव और उसके दुःखों का कारण।

भगवान् ने यही बतलाया है कि जीवात्मा जब अपने संसारी सम्बन्ध छोड़ देता है तब वह निज स्वभावरूप परम ज्ञानी और सुखी और चराचरदर्शी हो जाता है। जीवात्मा स्वभाव से ही सुखमय और ज्ञानरूप है, जैसे कि भगवान् नें बतलाया है, उसकी सिद्धि ज़रा विचार करने से स्वयं प्रकट हो जाती है। एक आधुनिक फिलासफर के विचार इस ओर पर्याप्त हैं। वह लिखते हैं कि "प्रथम ही 'सुख' पर ज़रा विचार करने से यह विदित हो जायगा कि जीव का स्वभाव ही सुख है। कारण कि सुख एक अवस्था है जो जीव में उसके अंतःकरण के भीतर से ही प्रकट होता है। वास्तव में इस संसार में बाहर कहीं भी सुख का स्थान नहीं है। इसलिए यदि हम अपने से बाहर अन्य पदार्थों में इसकी खोज आज से प्रलय-पर्यन्त करते रहें तो भी हम इस सुख से लाखों कोस दूर ही बने रहेंगे। यह सत्य है कि इन्द्रियों के भोग हमारे बाहर इस संसार में विद्यमान हैं, तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि उनमें से कोई भी स्वयं सुख नहीं है, जो वस्तुतः हमारी चेतना की एक अवस्था है। और यह व्याख्या साफ़ समझ में आ जायगी, यदि हम ज़रा इस बात पर विचार करें कि वह सुख वा आनन्द का अनुभव जो किसी कठिनाई या परीक्षा के सफलता-पूर्वक अंत होने पर—उदाहरण के तौर पर विश्व-विद्यालय की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर—होता है, कहाँ से आता है? प्रश्न यह है कि वह आनन्द की लहर जो तार-द्वारा सफलता की सूचना पाने पर हृदय में उठती है, कहाँ से आती है? क्या वह आनन्द उस तार के कागज़ की अनूठी लम्बाई चौड़ाई या रङ्ग से उत्पन्न होगा, जिस पर सूचना लिखी हुई है?

नहीं! क्योंकि वह तार का काग़ज़ अथवा उसका रंग किसी अन्य आत्मा पर इस प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकता है; और न वह काग़ज़ हमको ही आनन्ददायक हो सकता था, यदि उस पर असफलतासूचक सूचना लिखी होती। संभव है यहाँ पर आप कहें कि सुख उसकी भाषा या शब्दों में विद्यमान था? परन्तु यह विचार भी झूठ साबित होता है, क्योंकि जब तक हमको तार की सत्यता पर विश्वास नहीं होगा तब तक हमको उस अवस्था का अनुभव नहीं होगा जो आनन्द का लक्षण है। तो फिर आनन्द क्या चीज़ है? और उसकी उत्पत्ति कहाँ से है? सूक्ष्म विचार से यह आवश्यक बात विदित हो जाती है कि सुख जीव का एक स्वाभाविक (अलग न होनेवाला) गुण होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। और इसलिए वह हमारे अन्दर से ही उत्पन्न होता है। विचार से यह बात भी प्रकट हो जाती है कि जीव के ऊपर से किसी परेशान करनेवाले भार, चिन्ता, कष्ट या बोझ के हटने से ही सुख का भास होता है, और तभी तक होता है जब तक कि अन्य चिन्ता आदि जीव पर अधिकार नहीं जमा लेतीं। वह वकील जो वकालत के पास करने पर आनन्द का अनुभव करता है, तुरन्त ही एक विपरीत प्रकार के अनुभव को प्राप्त होता है। ज्यों ही वह इस बात की कोशिश करता है कि अपनी सफलता से असली लाभ उठावे। इन घटनाओं से जो नियम निकलता है वह यह है कि सुख आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है, जो जैसे जैसे जीव की चेतना इच्छाओं से क्षोभित या उनसे मुक्त होती है वैसे वैसे अप्रकट या प्रकट होती रहती है। बस आत्मा केवल सुख का ही पुञ्ज है;

जिसका अनुभव पूर्णतया उसी समय हो सकता है व होता है जब उसकी समस्त इच्छायें नष्ट हो जावें*।"

इसी प्रकार सूक्ष्म विचार आत्मा के अन्य स्वभाव ज्ञान और अमरत्व को भी सिद्ध कर देता है। अतएव वैज्ञानिक विचार स्वातंत्र्य से भी हम भगवान् के बताये हुए गुणों को आत्मा में पाते हैं। अब विचारना है कि संसारी आत्मा में जो पुद्गल का समावेश होता है, वह किस रूप में होता है, जिससे कि आत्मा का निज रूप छुपा हुआ है और संसारी आत्मा किस तरह सिद्धात्मा होकर परम सुखी हो सकता है, जिस सुख के लिए वह इस संसार में इस तरह भटक रहा है।

अतएव यह प्रकट है कि पुद्गल का ही प्रभाव है जो जीव के उपर्युक्त गुणों को प्रकट नहीं होने देता, क्योंकि द्रव्यों का संयोग सदैव स्वाभाविक गुणों को सीमित या स्थगित कर देता है। परन्तु वह उनका नाश नहीं कर सकता। ज्योंही वह संयुक्त पदार्थ जुदे जुदे हुए जैसे कि हाइड्रोज़न और आक्सीज़न गैसेज़ संयुक्तावस्था (पानी) से पृथक् होती हैं, वैसे ही तुरन्त उनके स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं।

संसारपरिभ्रमण-कारक शक्तियाँ।

इसी अनुरूप में ही भगवान् ने बतलाया है कि "जीव और पुद्गल का संयोग सदैव अच्छी से अच्छी हालत में भी जीव के लिए दुःख और कष्ट उत्पन्न करता है। और यह संयोग अग्रलिखित आठ प्रकार की शक्तियों को धारनेवाले

* जैनकर्मसिद्धान्त पृष्ठ २-४।

पुद्गलमयी कर्मों का संयोग है जिससे निम्नलिखित आठ प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं:—

(१) ज्ञान की प्रतिरोधक शक्तियाँ (ज्ञानावरणीय कर्म)

(२) दर्शन की प्रतिरोधक शक्तियाँ (दर्शनावरणीय कर्म)

(३) वे शक्तियाँ जो सत्य श्रद्धान की बाधक हैं (मोहनीय कर्म)

(४) वे शक्तियाँ जिनके कारण दुःख और सुख का अनुभव होता है (वेदनीय कर्म)

(५) वे शक्तियाँ जिनके कारण विविध प्रकार के शरीर व शारीरिक अङ्ग बनते हैं (नाम कर्म)

(६) वे शक्तियाँ जिनके कारण जीव की आयु बँधती है (आयु कर्म)

(७) वे शक्तियाँ जिनके कारण गोत्र आदि का उदय होता है (गोत्र कर्म)

(८) वे शक्तियाँ जिनके कारण इच्छित कार्य में विघ्न पड़े और जो साधारण तौर से कारगुज़ारी में बाधक हो (अन्तराय कर्म)

प्रत्यक्षतया ये ही आठ कर्म की प्रकृतियाँ हैं जिनके कारण जीवों में एक दूसरे से अन्तर पड़ता है। यद्यपि इन आठ की भी कितनी ही अन्तरशाखायें हैं। इन आठ कर्मशक्तियों में से वह जो ज्ञान, दर्शन, सत्यश्रद्धान और कारगुज़ारी (वीर्य) के घातक हैं, घातिया कर्म कहलाते हैं। और शेषकर्म अघातिया (अ = नहीं + घातिया = घातक) कहलाते हैं। क्योंकि वे जीव के स्वाभाविक गुणों में विघ्न नहीं करते हैं, किन्तु वे विविध प्रकार के शरीरों और उनके आश्रित पर्यायों जैसे

आयु इत्यादि के निर्माण करने से सम्बन्ध रखते हैं। जीव के बन्धन मुख्यतः प्रथमोल्लिखित कर्म ही हैं, क्योंकि वे उसके आत्मिक क्षेम कुशल (विशुद्धता) के विरोधी हैं। यद्यपि अन्तिमोल्लिखित शक्तियाँ भी निर्वाणप्राप्ति में बाधा डालती हैं तो भी वे पूर्वोल्लिखित के फलस्वरूप ही हैं, और उनके नाश होने पर उचित समय में स्वयं, उस चिराग की लौ की भाँति जिसमें तेल निवट चुका है, नष्ट हो जाती है। अब यह कर्म कैसे बनते हैं? और वह कैसे नष्ट हो सकते हैं? यह दोनों जीवनसिद्धान्त में आवश्यक प्रश्न हैं। इन्हीं प्रश्नों से तत्त्वों की उत्पत्ति होती है।"*

भगवान् महावीर ने तत्त्व सात बतलाये हैं अर्थात् (१) जीव (२) अजीव (३) आश्रव (४) बन्ध (५) संवर (६) निर्जरा और (७) मोक्ष। इन सातों की उत्पत्ति दार्शनिक विचार में

सात तत्त्व

स्वतः हो जाती है। हमें जीव का सम्बन्ध पुद्गल से दूर करना है, इसलिए यह जानना आवश्यक है कि उसका स्वरूप क्या है? क्या वह पुद्गल के सम्बन्ध से मुक्त हो सकता है? इसलिए जीव प्रथम तत्त्व हुआ, जिसके विषय में हम पहले ही ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। अब यह जानना भी आवश्यक है कि वह वस्तु क्या है जिससे जीव पर के दासत्व में पड़ा हुआ है। यह दूसरा अजीव (पुद्गल) तत्त्व हुआ। इसका भी स्वरूप हम ऊपर देख चुके हैं। अब यह जानना भी आवश्यक है कि जीव अजीव तक कैसे पहुँचता है? यह नियम आश्रव कहलाता

---

* जैनकर्मसिद्धान्त पृष्ठ १०-११।

हैं। यह तीसरा तत्त्व हुआ। जीव तक कर्म पहुँच तो गये परन्तु वह उसमें मर्यादित कैसे हो जाते हैं, इसलिए बन्धतत्त्व आवश्यक हुआ। इस प्रकार तो कर्मों के आने का मार्ग रहा। अब उनके निकालने के लिए पाँचवें और छठे तत्त्व आवश्यक हैं। संवर नवीन आश्रव को रोकता है और निर्जरा स्थिति में के कर्मों को नष्ट करता है। अतएव जब सर्व-कर्मशक्तियाँ नष्ट हो गई तो जीव मुक्त हो गया। इसलिए सातवाँ तत्त्व मोक्ष हुआ। इस प्रकार इस कार्य-कारण पर अवलम्बित दार्शनिक विचार में स्वयंसिद्ध तत्त्व प्राप्त होते हैं। और इस शिक्षा की इस वैज्ञानिक लड़ी में कोई भी अन्तर नहीं डाला जा सकता, जब तक कि समूची लड़ी को ही नष्ट-भ्रष्ट न कर दिया जावे।

इन सात तत्त्वों में से हम जीव अजीव का दिग्दर्शन ऊपर कर चुके हैं। अब देखना है कि शेष के तत्त्वों का स्वरूप भगवान महावीर ने किस प्रकार बतलाया था। उनके अनुसार कार्माण पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा में आने का नाम आश्रव है। आश्रव के उदयरूप में आत्मा पुद्गल परमाणुओं को स्वतः ही आकर्षित करने लगता है और इसके विविध कषायों वश ये परमाणु आत्मा से मिल जाते हैं, जिससे आत्मा के निजगुण ढँक जाते हैं। और बंध बँध जाता है। अतएव बंध तत्त्व आत्मा में कर्मवर्गणाओं का आश्रवित होकर कालस्थिति के लिए मिल कर ठहर जाना ही है। इन बंधनों के तोड़ने पर ही आत्मा पूर्ण स्वतंत्र निजरूप हो जाता है। अतएव पहले आश्रव को रोकने के लिए संवर तत्त्व है। संवर-द्वारा हर समय आत्मा में आनेवाली कर्मवर्गणाओं को आने नहीं दिया जाता है। यह

मोक्षप्राप्ति में प्रथम पादुका रूप है। जब अन्य कर्मों का आना रुक गया तब पूर्व संचित कर्मों का निकालना रह जाता है। इसी का नाम निर्जरा तत्त्व है। जब समस्त कर्मबंध तोड़ दिये जाते हैं और जीवात्मा का पुद्गल से किसी प्रकार का संबंध नहीं रहता। तब आत्मा अपने स्वाभाविक गुण स्वतंत्रता, सुख, केवलज्ञान आदि का अनुभव करता है। यही अन्तिम तत्त्व मोक्ष है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने जगत् और आत्मा के सम्बन्ध में हमें वस्तुस्थिति के अनुरूप में यथार्थ शिक्षा दी है। यहाँ पूर्ण स्वाधीनता का पाठ है। आत्मा अपनी ही कृति से परतंत्र हो दुःख उठाता है। देव, मनुष्य, पशु, नरक-गतियों में भटक रहा है और वह अपनी ही कृति से इस परतंत्रता से छूट कर सच्चे सुख को पा सकता है। इसके लिए भगवान् ने जीवन का एक नियमित चारित्र्य ढंग भी बतलाया है, परन्तु उसके विषय में कहने के पहले हम भगवान् की वाणी को समझने के लिए जो स्याद्वाद सिद्धान्त बतलाया गया है उसका साधारण उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। क्योंकि उसके समझे बिना भगवान् की वाणी को यथावत् समझना दुष्कर है। यहाँ पर शङ्का हो सकती है कि जब भगवान् ने सब बातें अनादिनिधन बताईं—वह पदार्थ उसी रूप में बने रहते हैं तो उनमें परिवर्तन कैसे होते हैं? शङ्का ठीक है परन्तु इसकी निवृत्ति सहज में होती है। भगवान् ने द्रव्यों को समझने के लिए दो दृष्टियाँ बतलाई हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक अर्थात् अपनी असली दशा के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय।

असली रूप में बतलाया जाता है और पर्यायार्थिक जो उसकी पर्यायें हो रही हैं उनको बतलाता है। इसलिए पदार्थों का रूप वही बना रहता है, परन्तु वह पर्याय की अपेक्षा बदलता रहता है। जैसे सोना है। वह अँगूठी बन गया—फिर बिगाड़ कर बाली के रूप में आ गया परन्तु सोना वहाँ मौजूद ही है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक दृष्टि से सोना सर्वाव-स्थाओं में मौजूद है परन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उसमें उत्पत्ति-ध्रौव्य-व्यय रूप परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिए सर्व-दृष्टियों से प्रत्येक पदार्थ को समझने के लिए भगवान् ने स्याद्वाद का अनेकान्त सिद्धान्त बतलाया है। इसका महत्त्व अंधों और नेत्रवालों की कथा से सहज में समझ पड़ सकता है। जिस प्रकार एक हाथी को पाकर प्रत्येक अंधे ने जिस अंग को पकड़ा उसी के अनुसार उसका रूप बताया परन्तु नेत्रवाले ने उसके सर्व अवयवों का वर्णन करके उसका यथार्थ रूप सबको बता दिया। ठीक यही बात स्याद्वाद-सिद्धान्त की है। अन्य धर्म में एकान्त दृष्टि से ही सिद्धान्तवाद का निरूपण करते हैं तब भगवान् महावीर का धर्म अनेकान्त दृष्टि से उसका प्रतिपादन करके उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट करता है। और आपसी थोथे द्वेष को दूर हटाता है। भगवान् महावीर के समय में ३६३ विविध धर्मपन्थ प्रचलित थे। (देखो अंगपण्णति) और वह अपने विरोधी मन्तव्यों के कारण आपस में झगड़ते थे। भगवान् महावीर ने स्याद्वाद-सिद्धान्त का फिर से निरूपण करके इस मतभेद को और थोथे वितण्डावाद को भारत से दूर भगा दिया। यह खूबी भगवान् महावीर के ही उपदेश में है कि प्रत्येक प्रकार के मतों की

सिद्धि उनके सिद्धान्त से होती है। और एक नास्तिक एवं एक आस्तिक प्रेमपूर्वक उसको स्वीकार कर सकते हैं। इसलिए यदि मनुष्यों के भेदभावों को उचित रीति में कोई समाधान कर सकता है तो वह भगवान् का यह सिद्धान्त है। अतएव भगवान् का यह उपदेश वैज्ञानिक है। इसी कारण वही सार्वभौमिक (Uuiversal) मत है। उस ही की छत्रछाया में मनुष्य, यथार्थ सत्य के उपासक बन सकते हैं और आपसी विरोधों को नष्ट कर सकते हैं, जिस प्रकार कि भगवान् के समय की जनता ने इससे उपयुक्त लाभ उठाया था।

अतएव 'नय' उस अपेक्षा या दृष्टि (Point of view) को कहते हैं जिसके द्वारा पदार्थ के कोई एक स्वभाव को देखा जा सके। स्याद्वाद शब्द में दो शब्द हैं। स्यात् + वाद = अर्थ है कथंचित् या किसी अपेक्षा से कहना। यह शब्द, नय का स्वरूप प्रकट करता है। पदार्थों में नित्य, अनित्य, एक, अनेक, अस्ति, नास्ति आदि अनेकविरोधी स्वभाव हैं। उनको एक साथ कहा नहीं जा सकता। जब नित्य स्वभाव बतावेंगे तब अनित्यादि स्वभाव नहीं कहे जा सकेंगे और जब अनित्य स्वभाव को कहेंगे तब नित्य आदि स्वभाव नहीं कहे जा सकते। एक स्वभाव को कहते हुए दूसरे भी स्वभाव वस्तु में हैं इस बात का झलकाव 'स्यात्' शब्द से होता है, जैसा कि श्रीसमन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा में कहा है:—

स्याद्वाद-सिद्धांत

"वाक्यष्वमेकान्तद्योती गम्यम्प्रति विशेषक;
स्यान्निपातोऽर्थ योगित्वात्तव केवलिनामपि॥"

भावार्थ—स्यात् ऐसा अव्यय वाक्यों में लगाने से वस्तु

में अनेक धर्म हैं, इस बात को झलकाता है तथा विशेष किसी धर्म को जिस अर्थ के साथ वह जुड़ा हुआ है विशेष करके बताता है। व अन्य धर्मों को गौण करके दिखाता है। जैसे हमने कहा—स्यात् नित्यं अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु नित्य या अविनाशी है। यहाँ नित्यपने को विशेष्य करके बताते हुए अनित्यादि स्वभाव भी अन्य अपेक्षा से हैं इस बात को स्यात् शब्द द्योतित करता है। इसी तरह यदि हम कहें—स्यात् अनित्य अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु अनित्य है यहाँ स्यात् शब्द अनित्यपने को मुख्य कहता हुआ अन्य नित्यादि की तरफ़ भी संकेत करता है। स्याद्वाद नय के समझे बिना वस्तु में अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव एक ही समय में हैं इसका बोध नहीं हो सकता। पाठकों को मालूम हो कि जीव नाम वस्तु यदि हम समझना चाहें तो उसमें नित्यादि स्वभावों को निम्नलिखित प्रकार से समझना होगाः—

(१) द्रव्यपने और अनन्त गुणों के एक साथ हर समय रखने की अपेक्षा से जीव नित्य है।

(२) द्रव्य की पर्याय अथवा अनन्त गुणों की समय समय में अवस्था के पलटने की अपेक्षा जीव 'अनित्य' है। क्योंकि हर एक पर्याय एक समय-मात्र रह कर नष्ट हो जाती है।

(३) जीव अनंत गुण पर्यायों का एक अखंड अमित समुदाय है इस अपेक्षा से एक रूप है।

(४) जीव अपने अनन्त गुण पर्यायों के स्वरूप को भिन्न भिन्न रखता हुआ हर एक को अपने सर्वांग में व्यापक रखता है, इस अपेक्षा जीव अनेक रूप है।

(५) जीव अपने जीवपने के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की अपेक्षा भावरूप वा अस्तिरूप है।

(६) जीव अपने भीतर अपने से अन्य जीव अजीव के द्रव्य क्षेत्र काल भावों को न रखने की अपेक्षा अभाव रूप वा नास्तिरूप है।

(७) जीव सदा ही अपने शुद्ध स्वभाव की शक्ति को नहीं त्यागता है इस अपेक्षा से जीव शुद्ध रूप है।

(८) जीव कर्मों के उदय के बल से अपने स्वभाव से विभाव भावों में आ सकता है इस अपेक्षा से अशुद्धरूप है।

इस प्रकार अनेक अपेक्षाओं से एक वस्तु के स्वभावों को समझाने के लिए स्याद्वाद नय उपयोगी है। यदि हम व्यवहार में दृष्टान्त लगावें तो मालूम होगा कि एक जवान मनुष्य गृहस्थ एक समय में अनेक सम्बन्धों को रखता है उन सबको भिन्न भिन्न अपेक्षा से ही समझा या कहा जायगा; जैसेः—

(.) यह पुरुष अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है।
(२) " " " पुत्र " " पिता है।
(:) " " " मामा " " भानजा है।
(४) " " " भानजे " " मामा है। इत्यादि

जो सिद्धान्त जीव को एकांत से नित्य ही मानते या अनित्य ही मानते या एक ही मानते या अनेक रूप ही मानते या शुद्ध ही मानते या अशुद्ध ही मानते उनके सिद्धान्त में संसार, मोक्ष, पुण्य, पाप, सुख, दुःख आदि नहीं सिद्ध हो सकेंगे। जैसा स्वामी समन्तभद्राचार्य ने आत्म-मीमांसा में कहा हैः—

"कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वयं नास्यात् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२॥"

भावार्थ—एकांत की हठ करने से पुण्य, पाप का द्वैत, सुख-दुःख का द्वैत, लोक-परलोक का द्वैत, विद्या-अविद्या का द्वैत तथा बन्धमोक्ष का द्वैत, कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकेगा। श्रीमहावीर के स्याद्वाद नय के सिद्धान्त द्वारा ये सब बातें सहज साध्य हैं।'* इस सिद्धान्त का विशेष रूप जैन-सिद्धान्त-ग्रन्थों से समझना चाहिए। इस छोटे से निबन्ध में उसका पूर्ण विवरण देना असंभव है। अतएव भगवान् की ईश्वरीय वाणी को अनेकान्त दृष्टि से समझने के लिए स्याद्वाद की आवश्यकता का दिग्दर्शन कर लेने पर अब हमें उनकी बताई हुई चारित्र्यशिक्षा वा लौकिकशिक्षा पर भी विचार करना चाहिए। देखना चाहिए कि उन्होंने मोक्षमार्ग का निरूपण किस प्रकार किया है। भगवान् के उपदेश के अनुसार बतलाया गया है कि:—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः।" वस्तुतः सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य मोक्ष का मार्ग है। जब तक हमको आत्मा पुद्गल आदि के अस्तित्व में विश्वास नहीं होगा तब तक हमको ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए पहले सम्यक् दर्शन—यथार्थ तत्त्वों का श्रद्धान होना आवश्यक है। जब अपने स्वरूप और असली सुख का अलौकिक ज्ञान प्राप्त हो गया तब आवश्यक है कि सम्यक्

परम सुख प्राप्त करने का मार्ग।

---

*-इंग्लो, गीर, वर्ष १ अंक १ पृष्ठ १९-२०

चारित्र्य का पालन किया जाय। सम्यक् चारित्र्य का निरूपण जैन-शास्त्रों में किया गया है। साधारणतया वह दो प्रकार है एक तो गृहस्थों के लिए और दूसरे गृहत्यागी मुनियों के लिए। पहले हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करना आवश्यक है। गृहस्थ इसका एक देश—अपूर्णरूप में पालन करता है और मुनि पूर्णरूप में। मुनि इनके पालन में जब पूर्णरूप में दत्तचित्त होता है और सर्व में पूर्ण समभाव धारण करता है तब गृहस्थ भी यथाशक्य उनका पालन कर समता-भाव का रसास्वादन करता है। परन्तु दोनों ही जगत् के सर्वप्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझते हैं क्योंकि उनकी आत्माओं के स्वभाव में—शक्ति में अन्तर नहीं है। इस कारण सर्वप्राणियों पर मुनि और श्रावक समभाव मैत्री रखता है। इस प्रकार का 'गृहस्थ क्रोध के वश होकर दूसरों को जान से नहीं मारता।* दूसरों पर अन्याय नहीं करता, न अत्याचार ही करता है। न वह लोभ के फन्दे में फँस कर दूसरों का माल हड़प करता है। न मान से

*भगवान् महावीर ने जो उपदेश संसार के व्यवहार में फँसे हुए लोगों के लिए दिया है, वस्तुतः वह हमारे वर्तमान के जटिल जीवन प्रश्न को हल कर देता है। भगवान् ने पहले ही बता दिया है कि परतंत्रता और अज्ञानता में रहना ठीक नहीं है। "सत्य" की खोज प्रत्येक प्राणी को करना चाहिए। उसके लिए सर्वस्व का भी त्याग करना पड़े तो कर देना चाहिए। इसी सत्य की प्राप्ति के लिए भगवान् ने अपने राजसी भोगोपभोग को त्याग दिया था। अतएव उसकी प्राप्ति के लिए त्याग और संयम आवश्यक है। इसी कारण भगवान् ने सर्वप्राणियों के प्रति प्रेमभाव रखने का उपदेश दिया है।

अंधा होकर अपने आपको बड़ा और उच्च एवं अन्यों को छोटा और नीच समझता है। न माया के जाल में कैद

इस सिद्धान्त के महत्व का समझने से हमारे जीवन बड़े सुखी हो सकते हैं। इस हेतु इस सिद्धान्त को सर्व में प्रकट करना चाहिए। क्योंकि उनके सदृश अहिंसाधर्म का प्रतिपादन कहीं अन्यत्र नहीं मिलता। इस अहिंसा-धर्म से लोगों में वास्तविक वीरता और दृढ़ता आती है। एवं आत्मविश्वास की उत्पत्ति होती है। अहिंसा-धर्म से जो लोग कायरता और निर्बलता की बढ़वारी होना समझते हैं वह अहिंसा के मूल तत्त्व को ही नहीं समझते। वास्तव में अहिंसा के कारण कहीं किसी अवस्था में भी ह्रास की असह्य वेदना सहन नहीं करनी पड़ती। भारत का पतन इस अहिंसा के अभाव में ही हुआ है। प्राचीन काल में जिस समय जैन-धर्म की सार्वभौमिक अहिंसा का प्रचार सारे भारतवर्ष में था उस समय विदेशी आक्रमणकर्त्ताओं की दाल भारतीय राजाओं के समक्ष नहीं गली थी। उल्टे पराजय का ही मुख देखना पड़ा था। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य जैन-धर्मावलम्बी थे। उनके समय में यूनानी भारत पर अधिकारी नहीं हो सके थे। किन्तु ज्योंही विजातीय मनुष्यों के अमानुषिक अत्याचारों और कालदोष से जैन-धर्म का प्रभाव भारत से लुप्त हो गया और जब भारत में क़रीब क़रीब जैन राजाओं का अभाव हो गया और हिन्दू राजाओं की बाहुल्यता हो गई तब ही मुसल्मानों ने भारत पर अपना अधिकार जमा लिया। अधिक हिन्दू राजा विशेष मानी और मानसिक ज्ञान से अविज्ञ, अपने छोटे छोटे स्वार्थों में देश की बड़ी से बड़ी हानि करनेवाले थे। इनको मांसभक्षण से भी परहेज़ नहीं था। इन्हीं स्वार्थी राजाओं के हाथों से भारत का अधःपतन हुआ! जैन-अहिंसा गृहस्थपुरुषों को अपनी रक्षा के लिए उचित और आवश्यक उपायों को अवलम्बन करने का विधान करती है। इसलिए अहिंसा-धर्म से भारत का पतन नहीं हुआ।

होकर दूसरों के साथ छल-कपट करता है। न काम से पराजित होकर दूसरे की स्त्री में चित्त लगाता है। वह जानता है कि जिस तरह मेरे प्राण—मेरा द्रव्य—मेरी स्त्री हरी जाने से मुझको दुःख होता है। ऐसे ही दूसरे जीवों को भी उनके प्राण—उनका द्रव्य—उनकी स्त्री हरी जाने से दुःख होता है। भगवान् के बताये अनुसार साम्यभाव को धारण किये हुए गृहस्थ स्वार्थ में भी अन्धा नहीं होता। वह स्वार्थ का दास होकर दूसरों की हानि नहीं करता। यद्यपि राजनीति के अनुसार दुष्टों का निग्रह अपराधियों को दंड, शत्रुओं का पराजय करता है। वह सांसारिक पदार्थों की अति तृष्णा में परिग्रह की पोट नहीं बांधता है। न झूठ बोलता है। उसकी सदैव यही भावना रहती है कि मुझसे किसी जीव को दुःख न पहुँचे। मेरे निमित्त से किसी प्राणी का नुकसान न हो। इतना ही नहीं वह हर समय दूसरों पर दया करता है—दूसरों की सहायता करता है।' इस प्रकार वह भगवान् के बताये हुए चारित्र्य-मार्ग पर चलता हुआ स्वयं अपनी आत्मोन्नति करता है और दूसरों को भी उस ओर सहायता करता है। सदैव सच्चे सुख-मोक्ष को पाने को तल्लीन रहता है। इस प्रकार क्रम क्रम ऊपर चढ़ने के लिए चारित्र्य नियम के ११ दर्जे हैं। उपरोक्त पाँच नियम उसके प्रथम दर्जे वा प्रतिमा के अन्तर्गत वर्णित हैं। इसी प्रकार ११ ही प्रतिमाओं के चारित्र्य का पालन करके अन्त में यह गृहस्थ उस अवस्था को पहुंच जाता है कि वह जैन साधु हो सके। एक-दम बिना अभ्यास किये हुए गृहत्याग करना लाभदायक नहीं। इस प्रकार जब वह गृहस्थ ११ प्रतिमा का चारित्र्य धारण

कर ले तब वह जैन साधु होकर महाव्रतों को धारण करके पूर्ण रूप से सर्व में साम्यभाव धारण कर लेता है। और अपने आत्मध्यान में लीन हो कर्म्मों के आश्रव को रोकता है क्योंकि वह अपनी आत्मा के स्वभाव में तन्मय रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। शरीर से ममत्व त्याग देता है। उसका पोषण-मात्र अपघात न करने के ख़याल से करता है। और इस प्रकार कर्मों का क्षय करता हुआ अन्त में उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है कि जिसमें वह सच्चे सुख को पा सके। साधारण रूप में भगवान् महावीर के उपदेश की शिक्षा हमको इस प्रकार प्राप्त होती है। वस्तुतः यह उपदेश वैज्ञानिक प्रमाणित होता है। इसलिए उसका खण्डन नहीं हो सकता। अर्थात् वह न्याय से भी यथार्थ सिद्ध है। एवं वह सर्वप्राणियों को समान हितकर है। क्योंकि वह यथार्थ स्वरूप में सर्वपदार्थों का निरूपण करता है। उसमें सर्व विषय कार्यकारण सिद्धान्त पर वैज्ञानिक ढङ्ग पर वर्णित हैं, इसलिए वह धार्मिक विषय के भूल और भ्रम को दूर कर देता है।

अन्य धर्मों से विशेषतायें।

इस प्रकार अन्य सर्वधर्मों से हम भगवान् के बताये हुए धर्म में निम्न विशेषतायें पाते हैं जो उसे सार्वभौमिक प्रमाणित करती हैं अर्थात्:—

(१) वह वस्तुस्थिति रूप में वैज्ञानिक रीति से प्रत्येक पदार्थ का निरूपण करता है, जिससे सर्व प्रकार की शङ्काओं का अन्त होकर बुद्धि की संतुष्टि होती है।

(२) वह प्रत्येक आत्मा को स्वाधीन सिद्ध करता है, जो कि यथार्थ रूप में उसे अपने जगत् का—और दुःख-सुख का

कर्ता बतलाता है। प्रत्येक आत्मा दुःखों से छूट कर स्वतः ही परम सुखी हो सकता है। अन्य कोई उसे सुखी नहीं बना सकता। एकमात्र उसे स्वावलम्बी हो सन्मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। उसकी परतंत्र अवस्था दुःखदायी है। अपनी स्वाधीनता में उसे सुख मिल सकता है।

(३) उसका न्यायवाद सर्वोत्कृष्ट है। उसकी समानता में अन्य कोई भी न्यायसिद्धान्त उपस्थित नहीं हो सकता। वह बड़ी खूबी के साथ वस्तु के आपसी विरोधों का समाधान कर देता है। इसलिए वह सर्वमतों की उलझी गुत्थिओं को सुलझाने में अनुपम है।

(४) उसमें दार्शनिक वैज्ञानिकता के साथ ही मोक्षमार्ग का निरूपण भी उसी रूप में किया गया है। बाह्यक्रियायों कर पूर्ण कर्मकाण्ड में ही मनुष्यों को नहीं फँसाया गया है। प्रत्युत नितान्त सरलतापूर्वक अपने उद्देश्य-प्राप्ति का मार्ग सुझाया गया है। और

(५) उसमें साम्यभाव की परमोच्च रूप में शिक्षा दी गई है। प्रत्येक जीवात्मा को अपने समान समझ कर किसी को मन, वचन, कायद्वारा कष्ट न देने के लिए उसमें उपयुक्त रीत्या विधान बतलाया गया है। साथ ही नियमित ढंग से सांसारिक कार्यों को पूर्ण करने का उपदेश दिया गया है, जिससे प्रत्येक आत्मा अपने उद्देश्यप्राप्ति की ओर अग्रसर होता जाये और दूसरों को भी उस ओर सहायता दे। यहाँ से उसे पूर्ण सार्वभौमिक प्रेम की शिक्षा मिलती है। जिसका पालन करने से मानवसमाज के दुःखों का अन्त हो सकता है। इस प्रकार का उत्तम और सरल

जीवन व्यतीत करने का विधान हमें अन्यत्र कठिनता से ही मिलता है।

इनके अतिरिक्त अन्य भी कितनी एक विशेषतायें भगवान् की वाणी में बतलाई जा सकती हैं; क्योंकि वह "ईश्वरीय वाणी" है। इसलिए उसके विषय में एक आधुनिक उत्कट विद्वान् डा० ओ० परटोल्ड साहब के निम्न शब्द ही पर्याप्त हैं। आप लिखते हैं:—

"(भगवान् महावीर-द्वारा पुनः प्रतिपादित धर्म) जैन-धर्म का यथार्थ मूल्य उसकी आभ्यन्तर पूर्णता में है जो कि विविध धर्मों के धार्मिक सिद्धान्तों को समान रूप में रख कर तुलना करने से प्रकट है। प्रत्येक धर्म में मुख्यतः तीन विषय हैं. अर्थात् सैद्धान्तिक, मानसिक और व्यावहारिक। बहुत से धर्मों में क्रियायों और रीति रिवाजों में वर्णित व्यावहारिक अंग समग्र धर्म से ही इतना अधिक बढ़ जाता है कि अन्य विषय बिलकुल ही गौण हो जाते हैं। जिनमें सैद्धान्तिक (Sentiments) तो भी किसी क़दर प्रिय बना रहता है। मानसिक अंग की उत्पत्ति ही आर्य-धर्मों की मुख्य विशेषता है। परन्तु एकमात्र जैन-धर्म में ही यह सब अंग उपयुक्तरीत्या प्रतिपादित हैं। जब कि प्राचीन ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म में मानसिक अंग को बेहद बढ़ा दिया गया है।"

इस प्रकार हम भगवान् महावीर के धर्म को सर्वतोभद्र पूर्ण, वैज्ञानिक सरल और सुगमतापूर्वक व्यवहार में लाने योग्य तथैव मानव-समाज की आपसी विभ्रान्तियों को दूर करनेवाला पाते हैं। इसका विशेष वर्णन जैन-शास्त्रों के

अध्ययन से प्राप्त हो सकता है। अतएव पाठकों को यथार्थ सुख-शांति की प्राप्ति के लिए उनका पाठ अवश्य करना चाहिए।

उपसंहार

अन्ततः इस प्रकार संक्षिप्त में हमने भगवान् महावीर के पवित्र चरित्र और उनके धर्म की विशेषता का दिग्दर्शन कर लिया। उससे अवश्य ही हमारे मन को शांतिलाभ होता है। तथा हमारे भ्रम भी काफूर हो जाते हैं। हम जान जाते हैं कि जैन-धर्म—भगवान् महावीर का पुनः बतलाया हुआ धर्म—बौद्धधर्म एवं हिन्दूधर्म से विभिन्न, स्वाधीन और विलक्षण है। तथा उसके अस्तित्व का पता अब तक के उपलब्ध भारतीय इतिहास के प्रारम्भ समय से लगता है। साथ ही भगवान् महावीर का पवित्र जीवन हमको एक अपूर्व स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता है। और उससे हमारे आत्मबल की वृद्धि भी होती है। इस हेतु पाठकों को अवश्य ही इस विशुद्ध आत्म-रस का पान कर निजानंद का अनुभव लेना चाहिए। वस्तुतः—

"जो अपनो हित चाहत है जिय, तौ यह सीख हिये अब धारो।
कर्मज भाव तजो सब ही, निज आतम को अनुभौरस गारो॥
वीर जिनचंद सों नेह करो नित, आनंदकंद दशा विस्तारो।
मूढ़ लखे नहिं गूढ़ कथा यह, 'गोकुल गाँव को पैंडोहि न्यारो'॥"

वन्दे वीरम्

शुभमिति